अनन्तर
जैनेन्द्र कुमार

निवेदन

'अनन्तर' लिखने में पहली बार ज़ोर पड़ा. 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' भी सीधे रेडियो पर गए थे. पर संयोग कि वे शुरु ही प्रथम पुरुष में हुए थे. इस बार आरम्भ के कुछेक पृष्ठ जाने पर जानना पड़ा कि नहीं, रेडियो पर प्रथम पुरुष ही चलेगा. मेरा तो पहला अनुभव था कि नहीं, ऐसे नहीं वैसे लिखा जायगा. माध्यम रेडियो का है, पाठक नहीं श्रोता का यह जैसे इस बार बार-बार याद में लेना पड़ा. इसका भी कहीं कुछ प्रभाव अनुभव हो तो आशा है पुस्तक के पाठक उसे विशेष ध्यान में न लेंगे. प्रसारण में जो अंश कट या छूट गए थे पुस्तक में उनका पुनरुद्धार होने दिया गया है.

अनन्तर

एक

अब—?

ट्रेन चली गई और प्लेटफार्म से लौटते हुए मेरे मन में घुमड़ता हुआ प्रश्न उठा—अब ? मानो कहीं कुछ भीतर समाप्त हो गया हो और प्रश्न मुझ अकेले के लिए आवश्यक हो आया हो।

एक लम्बे अरसे के बाद यह दिन आया है। अब तक विवाह से कन्याएं पराये घर जाती रहीं हैं। इस अन्तिम विवाह से बहू बनकर एक पराई लड़की घर में रहने को आ गई है। कल की अनजान और पराई वह लड़की आज हमारे संयुक्त जीवन की सबसे आत्मीय और घनिष्ठ केन्द्र बन उठी है। उन्हीं बेटे-बहू को मधुपर्व के उपलक्ष से कश्मीर यात्रा के लिए रवाना करके लौट रहा हूँ, सोच रहा हूँ कि—अब ?

जानता हूँ पत्नि 'रामेश्वरी', पुत्री 'चारु' और जामाता 'आदित्य' वह अलग से पीछे हंसते-बोलते चले आ रहे हैं। पर मैंने राह नहीं देखी है और छड़ी लेकर लम्बे डग रखता हुआ मैं अपने निकल कर आगे बढ़ आया हूँ। उनके हंसने-बोलने में शायद मैं अनावश्यक हूँ और यह भी लगता है कि जिधर मेरी चिन्ता जाती है उस दिशा के लिए वे भी अधिक संगत नहीं हैं।

इतने में आदित्य ने तेजी से आकर मेरा साथ पकड़ा और कहा, 'बाबू जी जरा ठहरिए न, हम भी तो हैं।'

'आं-हां, आओ-आओ।'

कहा तो, लेकिन विशेष रुका नहीं। वे लोग भी फिर साथ आने के लिए व्यग्र नहीं हुए। मानों उन तीनों ने मान लिया कि मुझे अपने में ही रहने देना उत्तम है, जिससे वे अपने में रह सकें।

निश्चय ही मैं अपने में प्रसन्न नहीं हूँ। जैसे ऊपर आकर मैं अकेला छूटा रह गया हूँ। नाम मेरा खासा जाना-माना माना जाता है। चिन्तन के क्षेत्र में यूँ पूछ भी लिया जाता हूँगा, एक आध मेरी कृति पर भाष्य भी बन गये हैं। लेकिन यह किसको पता होगा कि इस अपने व्यवसाय और उसके परिणाम से मैं कितना खण्डित बन गया हूँ। स्वयं अपने से मैं कितना कटा, निराश और रुष्ट हूँ।

आदित्य के जीवन की गति तेज है। प्रश्न की कहीं दुविधा नहीं है। इस दुनियां में उसे पाना है और भोगना है। अतिरिक्त सोच-विचार उसके पास किसी ओर से नहीं आ पाता। प्रयत्न उसका इसलिए तीर के मानिंद सीधा और एकाग्र होता है। त्वरित निर्णय और व्यावहारिक संकल्प का वह युवक है और मुझ में उसके लिए प्रसन्नता ही नहीं, सम्भ्रम भी है।

स्टीअरिंग पर आदित्य बैठा है और बराबर में दरवाजा खोलने पर मैं बैठ गया। माता और पुत्री पीछे बैठीं। आदित्य के मन में क्रम शायद दूसरा रहा हो। उसने राह में कहा, 'बाबू जी, हम लोग आपको उतारते हुए अभी तो सीधे चले जायेंगे। सवेरे चारू आयेगी, आप टालिएगा नहीं, मान जाइयेगा।'

'क्या मानना होगा, भाई।'

'सवेरे चारू आ ही रही है।'

विशेष उसने नहीं बताया और हमें घर पर उतार कर वे लोग चले गये।

भीतर घर में आने पर पत्नि ने पूछा, 'क्या बात थी?'

'कुछ नहीं—'

'संग-साथ ऐसे हंसी-खुशी के मौके पर तुम अनमने क्यों हो आते हो !'

'नहीं-नहीं' कहकर पत्नि को टाला, कपड़े बदले और छत पर बिछे अपने पलंग पर सीधा आ लेटा। लेटे-लेटे चांद की तरफ देख कर मानो उन में से यही जानना चाहने लगा कि अब ?

यहां का कुछ विशेष समझ नहीं आता। जैसे यही कि जिन्दगी भी क्या चक्कर है। बासठ वर्ष पार हो गये, कुछ अर्थ ही हाथ नहीं लगता। याद आता है कि मां थी और मैं छोटा था। फिर विवाह हो गया, और मैं पिता हो गया, और मां चली गयी। फिर बाल-बच्चे हुए और फिर उनका ब्याह परिवार हुआ। बासठ वर्ष इसी में निकल गये हैं। फिर वही होगा और सन्तति होगी और अपने समय पर वह भी चल देगी—सच, बड़ी ही बेचैनी और हैरानी होती है, कि क्या सब यही है ? यह कि ऐतिहासिक विकास अपने को इसी चक्र में से सिद्ध करता है, तनिक भी समाधान नहीं देता। बल्कि व्यर्थता का अर्थ पूछता हुआ सवाल का वह मुंह मानों मुझे पूरा का पूरा लील जाने को होता है। उसी के बचाव में मैंने अपने लिए संकल्प पूर्वक प्रश्न पैदा किया है, अब ? जैसे सचमुच जीवन को अब निरा चक्कर नहीं रहने देना है, उसे सार्थक करने में लगना है। तभी मालूम हुआ कि बराबर की खाट पर पत्नि आ गई है। लेटी नहीं है, आकर बैठी रह गई है। मैंने उधर मुंह नहीं किया, क्योंकि चांद जो काफी सुहावना था।

'क्यों, सोए नहीं ?'

'अँ-अँ', क्या करती रह गईं थी तुम नीचे ?'

'मतलब है तुम्हें घरबार से जो पूछते हो ? जाने हरदम क्या सोचा करते हो !'

'तुम्हें सोचता हूँ, और क्या सोचूंगा।' विनोद भाव से यह कह तो दिया, पर सोचा कि क्या शेष जिन्दगी को भी इसी तरह बीतना है।

'मुझे और क्या सोचोगे, यही न कि कितनी अपढ़ और बेकार हूँ।'

'क्या हो जाता है यह कभी तुम्हें, रामी, तुम तो—'

लेकिन रामेश्वरी ने सुना नहीं और परली तरफ मुंह करके लेट गयी।

पांच मिनट मौन ही रहा। मौन जो भरा और भारी था। मानों दोनों अपने में हों और बन्द, दूसरे से दूर और अलग।

अन्त में पत्नि ने कहा, 'तुम जाओ, मुझे नहीं जाना आबू!'

जरा हंसकर कहा, 'मैं ही क्यों जाऊं?'

'तुम्हें लोक-सेवा का धरम सूझ रहा है न, गिरिस्ती से अघा गए हो। कहो, झूठ कहती हूँ?'

बात मुझे लगी, विशेष झूठ भी नहीं थी। मैंने कहा, 'सच कहना तुम्हें ही ऊब नहीं हो आती है कभी-कभी। नहीं तो तीरथ-मन्दिर यह क्यों शुरू कर दिया है। सुनो, घर में अब बहू आ गयी है। संसार अब वे लोग देखें सम्भालें। हम तो कर-करा चुके जो करना था। अब तो धरम-धियान ही बस हम दोनों के लिए रह गया है। परलोक में, क्यों एक वही न काम आता है।'

'धर्म की बात करते हो, कभी मन्दिर तक गए हो?'

'ठीक कहती हो। पर इतने तरह के अलग-अलग मन्दिर हैं कि कहां-कहां जाते फिरें!'

'अपने धरम वाले मन्दिर में जाओ, और कहां जाने की बात है।'

'अपना धरम? उसी का तो पता नहीं चल रहा है।'

'पता क्या चलेगा, बाप दादा से तो चला आ रहा है।'

सोचने की बात है कि यह सीधी सी बात सोचने वालों की समझ में नहीं आती। कहा—

'अच्छा-अच्छा, अब सोओ।'

बात बीती और मौन में दो मिनट और हो गए। फिर बोली, 'बताया नही तुमने कि जाओगे?'

'पता नहीं—'

'मुझे भी चलना होगा ?'

'वह तो है ही ।'

'नहीं, मैं नहीं जाऊंगी ।'

'अच्छा देखेंगे । अभी मेरा ही क्या ठीक । चलो सोओ ।' कहकर मैंने इधर मुंह किया और करवट लेकर पत्नि उधर को हो गयी । आंखों के ऊपर फिर चांद आ गया । वह धरनी पर बेमतलब मुस्करा रहा था । अच्छा लगा चन्द्रमा को देखकर । वैज्ञानिकों के नक्शे उसको ऊबड़-खाबड़ भर दिखलाते हैं । जिस पर दावा है कि विज्ञान यथार्थ होता है । वह क्या यथार्थ हुआ जो सुन्दरता को सुन्दर तक नहीं देख सकता । आकाश सुन्दर है, चांद सुन्दर है, तारे सुन्दर हैं··· 'सुनो' मैंने अकस्मात सुना, 'बहू के हाथ में तुमने चार हजार रुपया दिया है, कश्मीर के लिए ?'

'हां अच्छा है, सैर कर आयेंगे । गिरिस्ती की चक्की शुरू होने पर फिर कौन जाता है । तुमने कहा तो था—'

'रुपया ऐसे बरवाद नहीं होता ?'

'बरबाद के सिवा रुपया कभी कुछ और नहीं होता । रामी, अब तुम लोभ छोड़ो ।' फुंकार कर पत्नि ने कहा, 'मैं लोभ करती हूँ । करती तो आज हम इस दलिद्दर किराए के मकान में न पड़े होते ।'

मैं घबराया । यह मकान उनकी दुखती रग है । और मेरे मन में रहा है कि सम्पत्ति खड़ी करना अपनी कबर चिनना है । चैतन्य बंधता नहीं, मकान बांधना मानो उसे बांध डालना है । पत्नि की सदा की वही टेक सुनकर मैंने संकल्प पूर्वक मौन साध लिया, पत्नि ने भी शायद मन ही मन शपथ खाई कि पैसे में आग लगे जो आगे कभी वह मुंह खोलें । लुटाओ चाहे गवाओ···

नींद नहीं आई । शायद उन्हें भी नहीं आई, और चांद मुस्काता चला गया । जरूर जीवन का वह ढंग है जहां पैसे की हस्ती नहीं रहती,

वही सच्चा है। पर पत्नि और परिवार होते ही पैसा सब कुछ हो जाता है। इस बासठ के पार की उम्र तक मुझसे यह पैसे का झमेला कटा नहीं है। कैसे कट सकता है, सभ्यता और सफलता के संसार का सारा दारोमदार तो एक उस पर है। इसमें सारों का सार शास्त्र वन उठा है अर्थशास्त्र···इसी तरह की उधेड़बुन में जाने कव मैं समीक्षा से सहानुभूति पर आ लगा।···वयालिस वरस हुए, एक मुग्धा किशोरी पत्नि के रूप में मुझ में आ मिली थी। उस संग-सहारे सचमुच क्या वे कोंपल से लाल दिन स्वर्गोपम ही नहीं वन आए थे। पर स्वर्ग वह शनैः शनैः फिर मटमैली धरती वनता चला गया। मुग्धा वयस्का होती गयी और रोमांचकों से उतर कर मैं स्वयं नित निमित्त के काम काज में खपता गया। सच, कैसे कसाले के दिन थे वे। उस सब में इस वेचारी ने ही साथ और सहारा दिया। उसी ने निबाहा और थामा। नहीं तो दुनियां कव की मुझे तोड़-मरोड़ डालती। सोचते-सोचते मुझमें आर्द्रता आ व्यापी। तव मैंने कहा, 'सुनो, सो गयीं क्या ?'

ऐसे समय हर पत्नि के लिए सोया वनना अनिवार्य है। मैंने बाह पर हाथ से छुआ, कहा, 'सुनो भई।'

'पर नींद गहरी हो तो वताइए उसमें एकदम जगना और सुनना कैसे हो सकता है।'

तव बांह को मजवूती से दवा कर हिलाना पड़ा, कहा, 'अजी सुनती हो।'

वेचारी पत्नि ने कुनमुनाते हुए कहा, 'क्या है।'

मैंने कहा, 'छोड़ो आबू को और सब को। प्रकाश कश्मीर से आता है, इतने अपने चलो नैनीताल चलें।'

– 'तुम जानो जैसा करो।'

मैंने हंस कर कहा. 'यह तो दो-एक हजार से चल जायेगा।'

पत्नि ने मानो टालते हुए कहा, 'अच्छा-अच्छा मुझे सोने दो।'

पत्नि का यह अच्छा-अच्छा मुझ को सचमुच अच्छा लगा। एक

साथ तनाव की जगह सारे गात में स्निग्धता हो आई और चांद ऊपर वैसे ही हंस रहा था।

बात असल यह कि मुझ में शंका थी, शंका वह व्याप्त थी। इस समय वही नौंक देकर उठ आई है।—

—निश्चय ही समाज में क्रांति लाने के लिए बड़े-बड़े काम किए जा रहे हैं। देश की अवस्था विकट है। नाना प्रकार के दल अपने-अपने वाद की ध्वजा ऊंची किए कमर कसके उसके उद्धार के लिए उठे बढ़े जा रहे हैं। प्रशंसा करनी होगी इन सब की। सब तत्पर है और विश्वस्त। सभी दलों में कर्मी जन हैं, जिन्होंने अपनी सम्भावनाओं की तिलांजलि दे डाली है। क्रान्ति-यज्ञ में उन्होंने न दिन को दिन माना है, न रात को रात। अवश्य ही गुरु आनन्द माधव के लिए मन में मेरे गहरा आदर है। उनकी निस्पृहता देखी है, अद्भुत अध्यवसाय की कथाएं भी सुनी हैं। सवेरे शायद वह आ भी जाएंगे। पास की ही तारीखों में आबू में उन्होंने एक समागम की योजना की है। भारत की संकट की दशा पर वहां विचार होगा। आग्रह है कि उद्घाटन के लिए मैं पहुंचूं। पिछले वर्षों में इन उन आयोजनों में जाता भी मैं रहा हूं। पर उस सब ले-दे से सचमुच कुछ हुआ है, इस बारे में मन निश्चित उत्तर नहीं देता मालूम होता है, सभा-समायोजनों का पारित-संकल्प आत्म-संकल्प नहीं होता। हठात् वह राजनीतिक उदघोष बन जाता है। आशय, कर्म योजना उससे प्राप्त होती है, आत्म-चेतना नहीं मिलती। इस प्रकार के संघठित यूथ-कर्म से कतार-बन्दी सी हो चलती है, जिसे रेजिमटेशन कहते हैं। उनमें फिर बदा-बदी का होना भी आवश्यक होता है। और यह सब प्रक्रिया जिसकी छाती पर और कीमत पर होती है, वह बेचारी काम-काजी आम जनता है। उसकी दुहाई दी जाती है, वही पिसती है। सम्मेलनों में उत्साह और विश्वास बहुत देखा है। स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा से वातावरण दीप्त और उद्दीप्त रहता है। परस्पर सहानुभूति का स्पर्श विशेष सुलभ नहीं होता। निर्माण के लिए

चाहिए तो यह आंतरिक दूसरी प्र रणा चाहिए ।

—पत्नि के अतिरिक्त यह उधेड़बुन भी थी, जिसने मुझे आबू के सम्मेलन की अभिमुखता से फेर दिया था ।

देखा, पत्नि गहरी नींद में पहुँच गयी है । बड़ा ही विचित्र मालूम हुआ । उस समय उस काया के प्रति प्रेम नहीं उमड़ सका, बड़ी बेडोल सी लगी वह पर जितना ही प्रेम का अभाव था उतना ही कर्तव्य का भाव हो निकला । मैंने अपने को मन ही मन बधाई दी कि पत्नि की खातिर नैनीताल के कार्यक्रम की बात मुझे सूझी है ।

शायद उस ओर मुझ में उपेक्षा रही है और मैं प्रत्यक्ष से अधिक परीक्षा पर ध्यान जमाए रह गया हूँ । थोड़ी देर के लिए लगा कि यद्यपि वह चहुँमुखी प्रश्न जहां का तहां है, फिर भी दिशा कुछ तो साफ हुई है । पत्नि जो रुष्ट से तुष्ट होकर सो गई है, सो अब कुछ ठीक है ।

सबेरे मेज पर आकर काम किया उससे चित्त को स्फूर्ति मिली जिस समस्या से किताब में जूझ रहा हूँ वह है कि प्रकृति और पुरुष का परम-पुरुष में अद्वैत कैसे सिद्ध होगा । शब्द रूढ़ हों, प्रश्न ज्वलन्त था चित्त को स्फूर्ती सहसा इस बात से मिली कि प्रश्न वह निरा तात्विक और प्रच्छन्न नहीं रह गया था, बल्कि मेरे निकट एकदम जीवंत और मूर्त बन आया था । देश की और विश्व की आज की वर्तमानता तक से उसका सीधा सम्बन्ध दीख आया था—मुझे अपने सम्बन्ध में गहरे में यही शिकायत है कि बुद्धि समाधान के लिए धरती के श्रम में आने के बजाय कहीं आसमान और अधर में ही तो कल्पना को नहीं दौड़ता लगती ।

साढ़े आठ बजे । जैसा डर था, गुरु आनन्द माधव आ गये । वह अकेले न थे । साथ जो थी उनका नाम अपरा,—अपराजिता—बताया गया ।

गुरु ने कहा, 'तुम्हारे नाम के बारे में, प्रसाद, अपरा उत्सुक थी । उत्सुक इसलिए कि तुम से एकदम असहमत है । इसलिए साथ लेता

आया हूँ। यह भी आबू चल रही है। गुरु की अवस्था ७० के पास होगी। आयु की दृष्टि से स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरे पर एक प्रकार का तेज है। हल्के-हल्के दाढ़ी पर बाल हैं, उतने ही बाल सिर पर। आँखों पर चश्मा नहीं है, न बदन पर सिला कपड़ा।

अपरा को देख कर अच्छा लगा। जैसे जीती-जागती चुनौती हो। मानों गलत उसके सामने टिक न सकता हो।

'कहो प्रसाद,' गुरु ने कहा, 'अब तो निवृत्त हुए !'

मैंने दो टूक रहना चाहा। कहा, 'आबू चलना न हो सकेगा, गुरु जी। निवृत्ति के लिए नैनीताल जाना होगा।'

'कोई नया काम निकल आया क्या ?'

'नहीं, सिर्फ निवृत्ति और विश्रांति। चाहे कहिए, सैर।'

'सैर ? यह मैं क्या सुन रहा हूँ।'

'हां कुछ नया तो है। उस चीज का समर्थन मेरे पास अब तक कभी नहीं हो सका। पर अब ··मैं परिवार के प्रति शायद अन्याय करता रहा हूँ ··फिर आखिर मैं आपके समुदाय से बाहर का हूँ। कृपा कि आप याद कर लेते है। कुछ सीखने के नाते मैं जाता भी रहा हूं। लेकिन इस बार—माफी चाहता हूं।'

'—पर मैंने वहां लिख जो दिया है। तुम्हारा नाम छप-छपा भी गया है सब कहीं।'

'बात यह है, गुरुजी, कि मैं मिशन वाला व्यक्ति नहीं हूँ। आप के पास मिशन है, मेरे पास सिर्फ प्रश्न है। इसलिए मैं वहाँ बड़ा अजनबी लग आता हूँ। मालूम होता है, दर्शक से अधिक होने की मेरी योग्यता नहीं है। कर्त्ता मैं नही हो सकता हूँ—'

सहसा बीच में अपरा बोल पड़ी, 'बट यू आर राइट, वैरी-वैरी राइट देअर। व्हाई बी अपोलोजटिक।'

गुरु आनन्द माधव इस अप्रत्याशित उद्‌गार पर ठिठके रह गये। मैंने और भी नम्र होकर कहा,' 'जी नहीं, जानता हूँ मैं सही नहीं हूँ।

: की प्रार्थना मेरे लिए उचित है। लेकिन आप स्वयं
ी हैं मैं आशा करता हूँ।'
ि हैं। बट आई वांट गेट इनवाल्वड देअर, आई मस्ट

अपरा को देखा। निश्चय अपराजिता रहने योग्य है। चेहरे पर अनिश्चय नहीं है। स्वास्थ्य और स्वभाव यथोचित दृढ़ मालूम होता है।

मैंने कहा, 'माफ कीजिएगा, मैं गुरुजी से इसी चीज की दीक्षा चाहता रहा हूँ जिसे आप इनवाल्वमेंट कहती हैं। नहीं तो ऐसा लगता है कि अधर में तिर रहा हूँ, जी नहीं रहा हूँ। सार्ट आव फ्लोटिंग इन वैक्युअम। आपका अनुभव—।'

'जी हाँ, मैं एकदम जीने में से निकली हूँ। रॉ लिविंग। उत्कटता से जियी हूँ, उसकी तह तक, तल तक गई हूँ। नॉन इनवाल्वमेंट ऊपर और अलग रहना नहीं है, ऊपर और नीचे समान भाव से व्याप्त रहना है। इनवाल्वमेंट से आदमी खानों में हो आता है, व्यापक नहीं रह जाता।'

बीच में हंसते-हंसते गुरु आनन्द माधव ने मेरी ओर कहा, 'इसका इनिशाम अनोखा है। अपरा, तुम इन प्रसाद के बारे में आशावादी थीं, विश्वासी भी, शायद इसलिए कि इनसे घोर असहमत थी। अब देखा, यह बचकर अपनी पत्नि के साथ सैर करने नैनीताल निकले जा रहे हैं!'

'बट दैट इज नथिंग, नथिंग रीयल।'

'वह है, वह है।' हंसकर गुरु बोले,' वृद्धावस्था का प्रेम अनरीयल नहीं होता। लेकिन क्या तुम इनको वहीं तक समझोगी? हमारे देश के उत्कृष्ट बौद्धिक जन–नहीं, इस तरह अलग-अलग नहीं रह सकेंगे, और प्रसाद तुम—।'

'ठहरिए-ठहरिए मैं भूल गया। बताइए क्या लीजियेगा। ठंडा कुछ या गर्म?'

कहकर मैंने पान का बटन दबाया।

अपराजिता ने कहा, 'यह क्या आदत है भारत में, कि हर वक्त खातिर जरूरी है। बेवक्त खान-पान भी क्या खातिर है?'

'तुम भारत की हो अपरा, फिर कितनी भी बहादुर और होशियार चाहे हो, यह भूलना नहीं' गुरु आनन्द माधव ने कहा, 'फिर स्त्री हो।'

'नहीं, दोनों बातें भूलने की नहीं है, लेकिन यह होना क्या कोई खास होना है?'

गुरु ने ही कहा, 'नहीं, खास नहीं है। इसलिए स्त्री चाहे बहादुर हो, नम्र तो होनी ही है। तुम अभी तीसी में हो अपरा, प्रसाद बासठ पूरे कर गये हैं, मैं सत्तर पर आ रहा हूँ। आयु को और नहीं आदर तो चाहिए।'

'ओ ऐज! इट हैज इट्स प्रिवलेज आई ग्रान्ट।' कहकर अपरा बड़े स्वच्छ और ललित भाव से हंसी।

नभी पत्नि कमरे में आई। देखते ही आनन्द गुरु बोले, 'कहो रामेश्वरी सब ठीक है?—यह अपरा है। विलायत में शादी को आठ वर्ष निभाकर और अभी तलाक जीत कर आई है!'

रामेश्वरी ने अपरा को तनिक सा नमस्कार किया और पूछा, 'क्या लीजिएगा। चाय लीजिएगा या कुछ ठंडा?'

'छोड़ो-छोड़ो रामेश्वरी, तकल्लुफ छोड़ो,' गुरु ने कहा, 'आओ, इधर बैठो।—प्रसाद ने हमारा अनुरोध नहीं रखा है और नैनीताल जाना सोचा है। अब तुम्हें अपनी सहायता के लिए मैंने बुलाया है।'

'तो घन्टी मेरे लिए मालिक साहब ने नहीं की थी!' कहकर रामेश्वरी हंसी, 'कहिए उनके खिलाफ मैं क्या सहायता कर सकती हूँ?'

मैंने कहा, 'न सही चाय, शर्बत तो चलेगा। रामी—।'

रामेश्वरी उठने को हुई।

'अरे, कहाँ उठकर जा रही हो' गुरु आनन्द बोले, 'बैठो-बैठो, चाय शर्बत कुछ नहीं। अपरा को भी तुमने मिलाना था। अभी वेठौर ठिकाने हैं। बड़ी काबिल है। डाक्टरेट किया है केम्ब्रिज से लिटरेचर में। मेरे साथ तो तुम जानो अधूरी सी ही रहेगी—कुछ जोर का काम धाम चाहिए इसे।'

'थैंक्यू, जी नहीं। नहीं मैं अपनी फिकर कर सकती हूँ।'

'अच्छा-अच्छा' गुरु आनन्द ने कहा, 'वह फिर देखेंगे। अभी यह है रामेश्वरी कि प्रसाद को आबू चलना है। तुम साथ लेकर आ जाना, मुझे शायद कुछ पहले जाना हो।·· प्रसाद, हम लोगों को तुम देख ही रहे हो, क्या हम राजनीतिक किस्म के आदमी लगते है? और यह भारत देश राजनेताओं का ही नहीं है, उनका भी है जिन्होंने अपने हाड़-मास की खाद से इसकी धरती को सीचा है, जिनका श्रम, स्वेद और रक्त इसकी उपज में घुलता रहा है। देश के ऊपर बैठे नेता गण्यमान्य रहें, मुझे इसमें आपत्ति नहीं है। शायद शोभा के वही योग्य हैं। पर जिनको इस निर्माण में रच-पच जाना है वे साधारण जन हम हैं। तुम भी हो, यों तुम असाधारण चाहे मान लिये जाओ। तुम्हें मैं इसी के लिए गिनता हूँ कि तुम अपने मे विशिष्ट बने रहना नहीं चाहते। साधारणता में घुले-मिले रहने की तुममें चेष्टा है। आबू जमा होने वाले नेता लोग नहीं है, सेवक जन है। नेतृत्व रखें वे कि जो समर्थ हैं, हमारा मार्ग उपार्जन नहीं विसर्जन का है—रामेश्वरी, मैंने तुम्हारे प्रसाद से कहा, लेकिन—लेकिन शायद तुम्हारी वजह से नैनीताल का विचार बना है, तुम्हारी वजह से ही फिर वह टल भी सकता है।'

'कहिए स्वामी महाशय' रामेश्वरी ने हंसकर कहा, 'इन्हें मैं क्या कहूँ।'

'जो हुजूर का फरमान हो, वन्दा ताबेदार है।'

'मारवेलस!'

इस आकस्मिक ध्वनि पर सब ने चकित हो अपरा को देखा, उसके चेहरे पर निविड़ विस्मय था। मानो चमत्कार दीखा हो।

'रामेश्वरी ने कहा, क्या हुआ अपराजिता बहन।'

'क्या हुआ ? तुम हजूर हो, वह मालिक हैं। यह मामला क्या है। अचरज है कि हू डोमीनेटस हूम्।'

रामेश्वरी हंसी बोली 'आठ बरस व्याह में रह कर नहीं जाना तो अब क्या जानोगी कि मालिक और दास दो नहीं होते।...गुरु जी मैं सोचती हूं कि लिखकर देश के लिए जो यह कर रहे हैं या कर सकते हैं दूसरी तरह वह इनसे न होगा। इसलिए वहां बहस और भम्बड़ में जाने के लिए बताइए मैं इन्हें कैसे कहूँ। वहां ज़बान और जिद के जरिए मेल बिठाने की बातें होती रहती हैं, चाहे मन में मैल ही हो। ऐसी होशियारियों की जगह मैं देख सकती हूँ कि यह कैसे बुद्धू बन आते होंगे।'

'यही तुम अपने पति के बारे में विचार रखती हो रामेश्वरी।'

'क्यों, क्या इनके बुद्धूपने से रोज ही मेरा वास्ता नहीं पड़ता।'

'नहीं, रामेश्वरी, वह बात नहीं है। मंच प्लेटफार्म का सवाल नहीं है। सामने हजारों को बिठाकर उन पर भाषण झाड़ना नहीं है। एकदम आपसी चर्चा-वार्ता है, जो शांत आत्मानुसंधान के स्तर पर होगी।'

'फिर यह उद्घाटन का क्या आडम्बर है।'

'है तो आडम्बर। लेकिन सिर्फ तुम्हारे प्रसाद को पाने की खातिर—अच्छा-अच्छा, इन्हीं से पूछो, बस लिखने से इन्हें सन्तोष है ? मैं जानता हूँ किसी को नहीं हो सकता। कहो प्रसाद, तुम्ही कहो।'

मैं क्या कहता ? पर रामेश्वरी ने जिद की, बोली, 'सीधा सवाल है। कहते क्यों नहीं जो मन में हो।'

माना अभियुक्त हूँ। मैंने कहा, 'हां, नहीं है सन्तोष। बल्कि अब तो ग्लानि होती जा रही है ।'

'व्हाट डू यू मीन? यू मस्ट वी आनेस्ट।'

इस वाक्य पर अपरा की ओर मैंने देखा और मानो बिना रुके कहा 'जी ग्लानि। क्योंकि चुनौती से बचना है लिखने के अन्दर जा बैठना।'

इतना कहकर मुझसे रुकना हुआ। जैसे भीतर की गहरी गांठ निकाल बाहर की हो। एक सांस ली और फिर कहा, 'नहीं शब्द की ओट में कर्म से बचा नहीं जा सकता। अब बच जाएं, लेकिन चुनौती के उस सामने के लिए फिर-फिर जन्म लेना होगा। यह न होता तो शरीर लेने का कुछ अर्थ न था।'

कहते हुए शायद मैं किसी ओर न देख रहा था। अब सामने गुरु को देखा, पर ऐसे कि जैसे पट भर हों, मेरा कहा अपने ही प्रति हो, कहीं अन्यत्र उसे पहुँचाने की बात ही न हो। अंत में गुरु के और सब के प्रति मानों मैंने स्वीकार किया, 'हां, लेखन में मुक्ति नहीं है। लेखक की ही मुक्ति नहीं है।'

कहने के साथ मैं एकदम शिथिल हो आया। जैसे सब आयुध मेरे गिर गए हों, भीतर एकदम खाली हो आया हूँ।

कुछ क्षण खामोशी छाई रही। इस काल रामेश्वरी मुझे खोजती निगाह से देखती रही। फिर स्थिर और धीमी वाणी में उसने कहा, 'ठीक है, आप इन्हें आबू ले जाइए।'

वाणी क्षीण थी। उसमें कष्ट का कम्पन था, पराजय की स्वीकृति थी। फिर भी सार्थकता की ऐसी ध्वनि वहां थी कि बात अंतिम और उत्तीर्ण हो।

मैंने तब मानों कृतज्ञ भाव से पत्नि को देखा। मैं जान सका कि क्या उसके भीतर बीता और क्या घटा है। और उस दिशा में मुस्करा कर पूछा, 'यही फैसला है?'

पत्नि ने उसी भांति मुस्करा कर कहा, 'हां फैसला है।'

अपरा चित्रलिखी सी यह सब देख रही थी। आनन्द माधव स्तब्ध बैठे रह गये थे।

मानो यह उनके अनुभव लोक के वाहर का क्षेत्र हो।

मैंने हंसकर कहा, 'गुरु जी, पति मैं हूं, पर बहका पत्नी को आपने लिया है। चलिए, आपको बधाई देता हूँ। लेकिन श्रीमती जी, आप भी साथ चल सकेंगी न।' 'चलूंगी' रामेश्वरी ने संक्षिप्त भाव से कहा 'और इन गुरु के पास नहीं कि जिन्होंने बहका लिया है, मंजूर कीजिएगा तो उनकी ओर से आपके साथ ठहरूंगी।' कहने के साथ वह हंसी।

मैंने भी प्रसन्न घोषणा के भाव से कहा, 'अर्जी मन्जूर।'

इस नाटक में शेप दोनों दर्शक ही बने रह गए। लेकिन दर्शक होकर मानों दोनों भीतर तक छू भी गए। दो एक पल किसी को कुछ नहीं सूझा। तभी भाव की विभोरता से उभरकर रामेश्वरी ने कहा, 'जी नहीं, जाइयेगा अभी नहीं। अपरा बहन, सभ्यता के नियम हम नहीं जानते हैं, और यह खातिर नहीं है। पर जो थोड़ा कुछ हो आपको हमारी ओर से सह लेना होगा—अरे कौन ?

चारू।—'तू ?'

दो

सबेरे ही सवेरे चारू आ गयी। मैं मेज पर काम में था, बोली, 'यह तो बावू जी आज शाम के प्लेन से जा रहे हैं। हम लोगों का नैनीताल जाने का कल का है। वह प्लेन दस बजे हैं। बच्चे साथ हैं बताइये अकेली कैसे जाऊंगी ?'

'जाओ अपनी माँ से बात करो।'

'आप उन्हें बुला के कह दीजिए न।'

'मुझे क्या कहना है। जाओ, उन्हीं से पूछो।'

चारू चली गयी और मैं काम में लगा।

लेकिन थोड़ी ही देर हुई कि वापिस आकर उसने कहा, 'मां तो मना कर रही हैं, अब बताइये मैं क्या करूं।'

'मत जाओ नैनीताल, और क्या?'

'लेकिन वहाँ का सब ठीक हो गया है। बच्चों के मन में हुलास है, कभी उन्होंने नैनीताल देखा नहीं है। और वहां कलकत्ते से कुछ परिवार आये हैं जो हमारी राह देख रहे होंगे।'

'फिर क्या बात है, वह लोग हैं तो तुम्हें क्या परेशानी है। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे साथ होंगे।'

'अभी तो नया सब होगा उनके लिए। उनकी वजह से मुझे हैरानी रहेगी और उनका मन भटकेगा। आप कह न दीजिए, मां चली चलेगी तो—एक डेढ़ हफ्ते की तो बात है।'

'वह क्यों नहीं जा रही हैं।'

'मैं समझती हूँ आपकी वजह से नहीं जा रही हैं। इस स्वास्थ्य में आपको अकेला नहीं छोड़ना चाहतीं।'

'मुझे क्या हुआ है। बुलाओ तो उन्हें।'

चारू रामेश्वरी को बुला ले आई और मैंने कहा, 'यह चारू क्या कह रही है। बच्चों के लिए आठ दस रोज के लिए हो ही क्यों नहीं आतीं तुम नैनीताल?'

'तुम्हें अकेले छोड़कर मैं चली जाऊं यह कैसी बात कह रहे हो।'

'मैं तो तुम्हें छोड़कर महीने दो-दो महीने बाहर जाता रहा हूँ। और मैं अपाहिज तो अभी नहीं हूँ। और मुझे यहां ही कितने दिन रहना है, दो एक दिन बाद आबू पहाड़ जाना है ही, जहां सप्ताह तक लग सकता है।'

'इसलिए तो कहती हूँ मैं नहीं जाऊंगी। तुमने कभी अपनी देख

भाल रखी है। और अब तुम्हारी उम्र पहले जैसी नहीं रह गई है।'

सारांश चारु निराश चली गयी और उसकी मां किसी तरह मुझको मुझ पर छोड़कर जाने को राजी नहीं हुई।

कोई ग्यारह बजे फोन आया आदित्य का: 'मैं फैक्टरी से बोल रहा हूं। अभी चारु ने कहा कि मां जी बच्चों के साथ जा नहीं सकती हैं नैनीताल। मेरा आज शाम जाना जरूरी है, नहीं तो पाँच एक लाख का नुकसान हो जायेगा। दूसरा रास्ता नहीं। नैनीताल को कैंसिल करा जाए तो बच्चों का मन टूटेगा। आप शायद जा नहीं सकते, आपको कान्फ्रेन्स में जाना है। आप ही बताइये कि फिर क्या किया जाए?'

'आकर समझा दो अपनी मां जी को। तुम्हारा रौब है, टालेगीं नहीं।'

'आप जरा कह देंगे तो—।'

'मैंने कह दिया है। और भई, मेरे कहने का उल्टा असर भी होता है।'

'ऐसे नहीं, हुकमन कहिए। फिर नहीं टाल सकेगीं।'

'तुम्हीं जोर से कहके देखो न।'

'अच्छा—'

और फोन अपनी ओर से ही मैंने रख दिया। आदित्य, मैं जानता हूँ हार लेने वाला आदमी नहीं है। रुपये-पैसे के क्षेत्र में जो सफल हो सकता है, परिवार के क्षेत्र में उसके असफल रहने की सम्भावना नहीं रहती। और वही हुआ। सात बजे उसका प्लेन जाता था। देखता हूँ साढ़े छ: बजे जल्दी-जल्दी से वह घर में आया है। बच्चे और चारु साथ हैं, यहां से सीधा ऐयरपोर्ट जायेगा। मुश्किल से तीन-चार मिनट उसने अपनी मां जी के साथ लिये, फिर आकर मेरे पैर छूकर सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, कहा, अच्छा बाबू जी, आप कब तक माऊंट आबू से वापिस आ जायेंगे? वहीं न रहिए एक-आध महीने। चारु और बच्चे भी वहां आ सकते हैं। जो कहें इन्तजाम हो जायगा।

यहा गर्मी में क्या कीजिएगा। हफ्ते के हफ्ते इतवार को मैं आने की कोशिश करूंगा, अहमदाबाद तो प्लेन है ही।'

'तुम कब तक लौटते हो ?' आबू की बात को काट कर मैंने पूछा।

'कुछ ठीक नहीं है। देखिए—अच्छा प्रणाम।'

आदित्य चारू और बच्चों के साथ रवाना हो गया और मैंने रामेश्वरी से पूछा—

'तो तुम जा रही हो नैनीताल ?'

'हाँ, आदित्य ने तुम्हारा जिम्मा ले लिया है। मुझे उस पर पूरा भरोसा है।'

'क्या जिम्मा ले लिया है आदित्य ने ?'

'मालूम नहीं।' कहता था—'माँ जी, उनका इन्तज़ाम सब मुझ पर छोड़ दीजिए। वह अकेले नहीं जायेंगे। ठहरेंगे भी अकेले नहीं। भरपूर सारी सम्भाल उनकी रहेगी। अब तो आप मान जाइये। तुम्हीं सोचो, बच्चे बेचारे भटकते नहीं मेरे बिना—लेकिन तुम अपना पूरा ख्याल रखना। पकवान से बचना। सुबह-शाम गर्म पानी में नीबू लेना नहीं भूलना। खालिस नीबू, स्वाद के लिए कहीं नमक-चीनी मत लेना।'

संक्षेप कि होनहार हुआ और अदभुत, मालूम हुआ जब देखा कि अपरा के साथ मैं एक वातानुकूलित कूपे में आबू जाने के लिए आराम के साथ ला बिठाला गया हूँ। अपरा की व्यवस्था मेरे लिए कहीं कहने-सुनने का अवकाश नहीं है।

'जरा उठिएगा—प्लीज़—कुली, यह बिस्तर उठा दो—या आप इतने प्लेटफार्म पर चलें, जरा यहाँ—'

बैठा था कि उठकर बाहर प्लेटफार्म पर आ जाना हुआ। रेल वालों के बिस्तर हटा कर वापिस कर दिये गये और मैं कम्पार्टमेंट के भीतर पहुँचा तो देखा, अपरा ने अपना बिस्तर ऊपर की बर्थ पर फैला लिया है। मेरे लिए नीचे का बर्थ बिछा-बिछुकर सही कर दिया है।

'बैठिए न, खड़े क्यों रह गये।'

'जानना चाहता हूँ कि इस उलटफेर की क्यों आवश्यकता हुई ?'

'खद्दर मुझे पसन्द नहीं है। आपके रेल वाले यही देते हैं। बिस्तर आपका भी बदल देती, लेकिन कहीं आप—।'

'खद्दर तुम्हें चुभता है, क्यों ?'

'चुभना नहीं चाहिए ? कोई कपड़े में कपड़ा है !'

'खैरियत कि मेरे बिस्तर पर आपने कृपा की है। ठीक मेरा खद्दर मुझे ही चुभ लेगा। लेकिन ये बाहर क्या लिखा मैंने देखा।'

'मिस्टर एण्ड मिसिज़ लिखा है, यही न ?' कहती हुई अपरा हंस पड़ी, दूसरी तरह कूपे शायद मिलता कि न मिलता।'

'कूपे ही हो न ? आवश्यक था ?'

'आवश्यक नहीं था ?' वह मुस्कराई, 'मेरे लिए तो आवश्यक था ?'

'नहीं, यह ठीक नहीं किया तुमने।'

'डू यू मिस यूअर वाइफ़ ?'

'अपरा !'

'मैंने सोचा कि वह नहीं आई तो मुझे अब चाहिए कि आप मिस न करें उन्हें।'

'यह क्या बदतमीजी है !'

'ओह नो। ओन दी कन्ट्रेरी इट्स् आलटूगेदर अनसैलफिश आफ मी —और मैं हाजिर हूँ।'

कहकर अपरा खिलखिला आई। उस हंसी में कुछ मुझे विषम नहीं लगा। झरने की किलोल होती है वैसी वह हंसी की लहरें थी। पर मैंने डपटकर कहा—

'अपरा !'

अपरा ने मुझे देखा। उस दृष्टि में दोष नहीं दीखा, वरन सहानुभूति दिखाई दी। हंसी उसकी थम आई, बोली, 'अभी ट्रेन चली नहीं

है, 'शैल आई शिफट टु अनेदर कम्पार्टमेंट।'

'नहीं-नहीं. लेकिन—'

'पूरे बीस घण्टे का सफर है—ऐसे एक-एक मिनट भारी न हो जायेगा!'

'लेकिन तुन—तमीज से भी रह सकती हो।'

'रह सकती हूँ?' अपरा जरा चितवन से मुस्कराई। उस चितवन में मैल मुझे नहीं दीखा।

'तमीज को याद रखे रखना पड़ेगा। बट इज़ दैट सो इशैन्सियल?'

क्रोध पर टिकना मेरे लिए कुछ मुश्किल हुआ। कहा, 'अच्छा-अच्छा, आगे शरारत न करना।'

'सोचती थी ट्रेन चल देगी तो अपने बर्थ पर आ जाऊंगी। शरारत का डर हो तो कहिए, अभी चली जाती हूँ।'

'नहीं-नहीं—।'

'लीजिए, नहीं-नहीं भी आप कहते हैं। सच कहिए किसका डर है? अपना? या मेरा? यहाँ तीसरा तो कोई है नहीं।

'नहीं, यह ठीक नहीं है।'

'क्या ठीक नहीं है?—मेरा स्त्री होना ठीक नहीं है? या आपका पुरुष होना ठीक नहीं है? या ऐसा होने पर दोनों का आस-पास होना ठीक नहीं है? मेरी जगह रामेश्वरी होती तो बेहद ठीक हो गया होता। ह्वाट इज रोंग इन मी?'

'अपरा यह हंसी या बाहर की बात नहीं है—चाहो तो ऊपर अपने बर्थ पर जा सकती हो।'

'जी नहीं आपको बीस घन्टे डर में रखने की बजाय अच्छा है मैं कहीं और चली जाऊं।'

'कहने के साथ वह कुर्सी की बाहों पर खड़ी हुई और ऊपर फैला अपना बिस्तर समेटने लगी।'

इतने में रेल चल दी। अपरा हटी नहीं। अपना बिस्तर पूरा

लपेट डाला, यह करके कुर्सी से उतरी और दरवाज़ा खोलने को बढ़ी।

'मैं देखता रहा था। अब तैश में कहा, 'यह क्या कर रही हो, अपरा!'

'कन्डैक्टर से कहती हूं, मेरा सामान बाहर ले जायेगा।'

'ज्यादा बेवकूफी न करो, हुई उतनी काफी है।'

'उसने सुना-अनसुना किया और दरवाजा करीब खोल ही डाला। उस समय मैं झपटकर उठा, बाँह पकड़ी, खींच के उसे पीछे डाला और दरवाजा फिर पूरी तरह बन्द कर दिया।

झटके में वह बर्थ पर आ गिरी था। मैंने ध्यान न दिया और स्वयं कुर्सी पर बैठकर कहा, 'यह तुम्हें क्या सूझा था पागलपन?'

वह बोली नहीं। ज्यों की त्यों बैठी देखती रही। उस अवस्था में भी चेहरे पर चितवन की एक ईगत रेख तो खिची कहीं मुझे नहीं दीखी। सख्ती से कहा, 'समझीं? अब न करना पागलपन।'

वह देखती रही, देखती रही। सहसा बोली, 'मस्ट यू बी ए कावर्ड, प्रसाद?'

'लीव आफ प्ले-ऐक्टिग, यू अपरा।'

'अफरैड आफ प्ले ऐक्टिग।' कहकर वह खुलकर हंसी। अतिरिक्त मुक्त हंसी वह मालूम हुई। जरा तिक्त तो उसमें कुछ था, पर उसको भी गलत समझना मुश्किल था। लेकिन मैं अपने में आसान नहीं हो सकता था। हठात् कहा, 'हाउ कुड यू टेल ए लाई?'

'ए लाइ यू से?—बट आई डू मीन टू आफिशियेट फोर यूअर वाइफ।'

यह तो हद थी। कुछ देर उत्तर नहीं सूझा। उस साहस पर अपरा को देखता भर रह गया। वह अब भी स्वस्थ और सहज दीख रही थी। बर्थ पर से सरकती वह मेरी कुर्सी के पास आ गयी। मानों मेरा हाथ ही अपने हाथ में लेना चाहती हो। फिर स्थिर वाणी में मुझे समझाती हुई सी बोली, 'घबराने की कोई बात नहीं है। पति-पत्नी में झगड़ा

ग्राम होता है। अगले स्टाप पर अगर बिस्तर लेकर दूसरी जगह मैं चली जाती हूं तो यह कोई नई बात नहीं होगी। कन्डैक्टर जैसा एक आध कोई सोचेगा कुछ तो सोच लेगा। उससे क्या होता है। तुमसे कहती हूं, ठंडे होकर कहो, क्या यही ठीक न होगा ?'

'मैं कहता हूँ, बेवकूफी छोड़ो। एण्ड बीहैव यूग्ररसैल्फ।'

'शैल ग्राई बिहैव ?' कह कर बर्थ से वह उतरी, बढ़कर मेरी बाहों को लिया ग्रौर मुझे उठाते हुए कहा—'ग्राप अपने बिस्तर पर ग्राइये, कुर्सी मेरे लिए छोड़िए। उठिए-उठिए।'

अभद्र होकर मै उसकी उस चेष्टा में विघ्न नहीं ढाल सका। यह भी देखा कि यदि अस्वस्थ हूं तो मैं हूं, उसमें किसी प्रकार का ग्रावेश या असमंजस नहीं हैं।

'—नाऊ दैट इज़ राइट !'

ग्रौर पहले की तरह कुर्सी की बाहों पर खड़े होकर अपना बिस्तर खोल कर फैलाया। बैग लिया ग्रौर बाथ रूम में चली गई।

यह क्या हुग्रा ? रह-रहकर विचार ग्राया कि अपरा यदि अपने प्रकार की स्त्री है तो उसमें असह्य मेरे लिए क्यों कुछ होना चाहिए। व्यवहार उसका मेरे लिए तनिक अप्रत्याक्षित हैं तो उससे विचलित होने की क्या ग्रावश्यकता है।

वाथरूम से ग्राई तो वह नाइट ड्रेस में थी। बहुत ही फबता दीखा उस पर यह वेप। ग्राते ही बैग उसने ऊपर फेंका ग्रौर बोली, 'मैं ऊपर जा सकती हूँ।'

अनायास मुंह से निकला, 'अभी ?'

हंसकर उसने घड़ी देखी, कहा—'ग्यारह बज गया।'

'होगा, बैठो।'

कुर्सी में ग्राकर बैठी, वह बड़ी अच्छी ग्रौर भली लग रही थी। कुछ कहने के लिए मैंने कहा, 'वह जो तुम्हारा मिस्टर-मिसिज़ बाहर लिखा है, अवैध है। सजा हो सकती है उस पर।'

'आप तो गम्भीर लग रहे हैं !'

'बात गम्भीर नहीं है ?'

'एकदम नहीं—देखिए, आपकी पत्नि आ नहीं सकी है। मैं किसी की पत्नि हूं नहीं। अब उनकी जगह होकर आपकी सुख-सुविधा में कुछ काम आने की सोचती हूं तो सच कहिए इसमें बिगड़ने की क्या बात हैं। ला अपार्ट, इज इट नाट माई ह्यूमन ड्यूटी एज वेल—कानून की याद से आप बच सकें तो सोचिए क्या आपको ही यह अरूचिकर होगा ?'

'बी सीरियस, अपरा।'

'आई एम सिरियस, एण्ड अबव दैट सींमियर टू !'

'यूँ काँट डिसमिस दस दी सेक्रामेंट आफ मैरिज।'

'एण्ड डू आई डू इट ? विवाह के कारण समाज की तरफ से मन में डर या दोष नहीं रहता।

'दैट इज व्हाट इज इम्पॉर्टेंट, दी एसंस आफ ईट।'

'आई सी, लेकिन मैं बासठ हो चुका हूं। आई एम नौ मोर एन ऑबजैक्ट आफ लव।'

'दैट इज जस्ट व्हाइ। आई एम थरटी फाईव—यंग इन फार बोथ !'

यह क्या कह निकली थी, अपरा। लेकिन अब भी उसके चेहरे पर कहीं विषम भाव न था। मैंने कहा, 'जानती नहीं हो अपरा, तुम क्या कह रही हो। हंसी है, फिर भी यह ठीक नहीं है।'

'हंसी के ठीक-बेठीक होने की क्या बात है,' अपरा ने कहा और मुझे जैसे वात्सल्य से देखा। बोली—'बुरा न मानिएगा, आपके लिए मुझ में भूख नहीं हो सकती—आप वृद्ध है नहीं जितने बनने लगे हैं। ऐसी हालत में यदि मैं आपकी सुविधा बन सकूँ तो इसमें हम में से क्या किसी को घबराना चाहिए ? प्रौढ़ या वृद्ध होने से ही क्या पुरुष के प्रति स्त्री का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है ? या युवती होने से स्त्री

बरी हो जाती है ? मैं उन युवतियों सी नहीं हूँ जो पुरुष को उसके यौवन के लिए चाहती हैं । मैं—'

'अपरा, अब तुम चुप रह सकती हो ।'

'नहीं, चुप नहीं, क्या मैं तुम्हें अपना कुछ सुनाऊं ? लेकिन जाने दो—आदमी-आदमी के बीच जिसने शंका पैदा कर दी है, उसे नैतिकता कहते हैं । उसके ही आप बंदी बने क्यों बैठे है ?'

मैंने अपरा को देखा, स्पष्ट से आगे वह स्वच्छ तक लग रही थी । यह नहीं कि मैंने गलत समझना चाहा । लेकिन कहीं कुछ अवश्य था जहाँ भूल थी । मैंने कहा, 'तुम्हें अपने प्रति अन्याय नहीं करना चाहिए, अपरा ।'

'जी नहीं, आप डरिए नहीं । न्याय का अन्तिम रूप मेरे लिए यह है कि मैं अपने को गिनतीं में न लूं । इसलिए जब मुझे कुछ भी गिना जाने लगता हैं तो वही सहना कठिन होता है । सोच-विचार कर मैंने पा लिया है कि अगर मैं स्त्री हूं तो पुरुष के प्रति यह मानने में मुझे संकोच नहीं होना चाहिए । दोनों ओर स्वास्थ्य तभी रहेगा । अपने को अलग अनछुआ और पवित्र रहने का जो भाव बीच में आकर बाधा बनता है, वही हर्ज और जुर्म है । वह अनसौशल है, अनगौडली है । उसी से जितनी होती दुःख-दुविधा पैदा होती है और स्वत्व के उसी भाव को ऊंचे उठाए रखने के लिए तरह-तरह के आप्त-वचन गढ़ लिए गए हैं । उन्हीं के कारण कुंठा और क्लेश उपजते हैं—सोचा था, प्रसाद तुम इन चीजों से उठ चुके होंगे । खैर, जाने दो ।'

अपरा जैसी स्त्री मेरे जीवन में पहले न आई थी । मन में प्रसन्नता और प्रशंसा का भाव हुआ । कहा, 'अब देख लिया तुमने अपरा, मैं ऊपर नहीं उठा हूं । न ही मानता हूँ, मर्यादा लाँघना ऊंचा उठ जाना है ।'

'समझी, पर कहाँ से आती है तुम्हारी यह मर्यादा ?'

कहना नहीं होगा कि अपरा की तरफ से बहुत अधिकांश अंग्रेजी

ही निकलती थी। मैं भरसक हिन्दी बोलता था तो भी।

"तुम्हीं सोचो, नहीं चाहते फिर भी भीतर से ही वह मर्यादा क्यों अनुभव हो जाती है?"

"अनुभव होती है अन्दर और बाहर उन तत्त्वों के कारण जो बीते की ओर हमें खीचे रखते है। यानि उल्लंघन के बिना उन्नति नहीं है।"

'यह तो तुम विद्वान जैसा सूत्र बोल गयी—देखो, साढ़े ग्यारह हो गया है। कुछ गर्म पानी मिल सकेगा क्या, बैठे-बैठे, बस वह बटन कर दो—हां, तुम्हारी लांघने की बात। दूसरा पाँव धरती पर रहता है, तभी अगला उठ पाता है। दोनों धरती से अधर में हो आए तो ऐसी लाँघ पर हाथ पाँव के साथ गिरना भी हो सकता है। लाँघने में अगला टिक जाता है, तभी पिछला पांव उठ पाता है। टिकता जहाँ है उसे मर्यादा ही समझो। लांघने के साथ मर्यादा बनती भी जानी चाहिए। नहीं तो गति नहीं होगी। छटपटाहट होती रहेगी'—

'यू टाक ड्राइ विज़डम, प्रसाद। लिविंग इज रीअल, विज़डम एबाइडस इन प्यूरिटी, नैवर इन रियलिटी।'

'ठीक है, ठीक है—जरा बटन तो करो।'

अपरा ने बटन नहीं किया, उठी और दरवाजा खोलकर स्वयं बाहर कन्डैक्टर को कहने चली गयी। आई तो उसी के हाथ में प्लेट में गर्म पानी का गिलास था।

'इसमें कुछ डालना है?'

'वह नीबू है, पूरा एक निचोड़ दो।'

'साथ में कुछ और?'

'नहीं—'

'रोज साढ़े ग्यारह पर आप नीबू लिया करते हैं।'

'नहीं, पहले ले लेता हूं।'

'तो कहा क्यों नहीं?'

'हिम्मत कहां होने दी तुमने। असल में याद ही नहीं रहा।'

'तो अब सुनिए, आगे लिहाज न रखियेगा। अपनी रामेश्वरी जी से जैसे कहते रहे है, इन चार पांच दिन मुझसे कह दिया करेंगे—लाइये दीजिए गिलास—प्रामिज़ ?'

मैं हंसता उसे देखता रहा, बोला नहीं।

'अफरैंड अगैन।'

मैं चुप रहा।

'अच्छा-अच्छा, इजाजत हो अब ऊपर जाऊं ?'

'हाँ जाओ, सोओ।'

'अपरा ने एकाएक बढ़कर मेरे चेहरे को हाथों में लिया, माथे पर चूमा, कहा 'गुड नाइट' और बिना देर लगाए वह अपनी बर्थ पर पहुँच गई।'

विलक्षरण लगा और कुछ देर मैं वैसा ही बैठा रहा। अन्त में निवृत हो हुआकर स्वयं सोने को हुआ और बत्ती गुल की तो देखा, अपरा कोने की रोशनी किए चुपचाप किताब पढ़ रही है।

सुबह सवेरे साढ़े पांच का समय नहीं होगा। आवाज पर उठना हुआ तो देखा, अपरा पास खड़ी हुई कह रही है, 'उठिए, देखिए, बाहर कैसा सुहावना है।' परदे और किनारे खींच कर उसने दिखाया और मैंने बाहर की ओर देखा सचमुच बाहर का भीगा सा भागता हुआ वह दृश्य बड़ा सुहावना था। पर अपरा कम सुहावनी नहीं दीख रही थी। पूछा, 'तुम स्नान वगैरा सब कर चुकीं हो क्या ?'

'नहीं, सब इल्लत से बरी हूँ।'

'चाहें तो हाथ मुंह धो आइये।'

'क्यों, क्या बात है ?'

'गायत्री-स्तोत्र सुनने में आपत्ति तो न होगी ?'

'बहुत लम्बा-चौड़ा मामला है क्या।'

'वाश कर ही आइये।'

मैं बाथरूम चला आया और वहीं से संस्कृत के श्लोकों की गुनगुनाहट मुझे हल्के-हल्के सुनाई देनी शुरू हो गयी। आया तो बाल खोले वह कम्पार्टमेंट में घूमती हुई गा रही थी। गायत्री मंत्रों का वैसा स्वच्छ सस्वर गायन सुनने को शायद ही मिला हो। ध्वनि में तल्लीनता थी, उच्चारण सर्वथा प्राञ्जल। परमेश्वर का मुझे पता नहीं है। पर महाविराट के भीतर होकर स्वयं का खो आना बहुत ही अच्छा लगता है। उस क्षण एक कृतार्थ धन्यता का अनुभव हो जाता है। इसीलिए अच्छे गाये गये भजन और स्तवन को मैं प्यासा बना सुनता रह जाया करता हूं। बड़े आनन्द की प्रतीति हुई।

'तुम तो संस्कृत की विदुषी मालूम होती हो, यह सब कहाँ से सीखा ?'

'छुटपन में यही सब तो सीखा था।'

'फिर अंग्रेजी नाहक क्यों बघारती हो!'

'जबान पर चढ़ जो गयी है कम्बख्त—बैड टी कब लीजिएगा ?'

'अभी शायद उसमें देर है।'

'मैं जल्दी के लिए कह आई हूँ, यह देख क्या रहे हैं आप ?'

'तुम्हें विलायती गिरिस्ती में देखना चाह रहा हूं। वहाँ यह सब चलता था, सबेरे का स्नान प्रार्थना वगैरा।

'नहीं' कहती हुई वह शरमाई, 'वहाँ नहीं।'

शर्माती हुई वह अपरा बड़ी नई अनोखी सी मालूम हुई। बहस में स्त्री व्यक्ति हो आती है, यानी अपने से कुछ और हो आती है। स्त्री को ज्ञान में देखना स्त्रीत्व से विरहित बनाकर देखना है। प्रकृत स्त्री वह तब है जब शर्माती है। अपरा के बारे में मानो मैं यह कम सम्भव मानता था। मैंने कहा, 'कल तुम कुछ अपने बारे में सुनाना चाहती थीं।'

'वह जाने दीजिए—। एक बात अवश्य पूछना चाहती हूं। संसार स्त्री-पुरुष मय है। यह द्वैत ब्रह्माण्ड भर में व्यापा है। फिर वह एकदम फट कर दो क्यों नहीं हो जाता? क्या कारण यही नहीं कि उन दोनों के बीच स्नेह की विवशता है। दोनों उसी में से सफल होने को विवश हैं। उसका हमें क्या अभिनन्दन नहीं करना चाहिए?—लेकिन आप—।'

अच्छा हुआ चाय आ गयी और उसे सम्भालने में उसे लगना पड़ा। मेरा प्याला बनाकर मुझे देते हुए कहा, 'आप चुप हो गये।'

'चाय लो, स्नेह कहीं भागा तो नहीं जा रहा।'

उसने अपनी चाय बनाई, एक सिप लिया, कहा, 'मैं जानना चाहती थी।'

मुझे बचने की राह न थी। बचने की वैसी कोई बात भी न थी। मैंने कहा, 'तुमने देखा था, कहा भी था। डर से ज्यादा तुम्हारी बात का प्रमाण और क्या होगा? मालूम नहीं तुम्हें कि मैं आजकल उसी प्रश्न पर लिख-पढ़ रहा हूँ। लोगों ने तरह-तरह से जगत-व्यापार के इस व्यूह को खोलने और समझने की कोशिश की है। उस प्रयास का तर्क शुद्ध रूप तो विज्ञान है। उसके प्रकाश में जड़-चैतन्य के द्वैत की भाषा से आगे शायद बढ़ा न जा सकेगा। मूल द्वैत वही है: स्त्री-पुरुष—

'लेकिन तुम चाहती क्या हो?'

'आपके डर को समझना चाहती हूँ—लाइये प्याला दीजिए—सच पूछिए तो मैं संयम को ही नहीं समझ पाती।'

'लेकिन तुम नहीं कह सकोगी कि तुम संयत नहीं हो। संयम हम तुम में गर्भित है। और डर—पाप का डर शुभ होता है।'

'पाप?—आप मानते हैं, तो भूत को भी मानते होंगे।' कहते हुए अपरा हंसी।

'क्यों पास्ट टैन्स नहीं होता? हिन्दी में उसे भूत कहते हैं। सोचो भूत को तुम एकदम नष्ट कर सकती हो। ऐसे ही पाप को भी नहीं

लेकिन पाप को क्या हम ही नहीं बनाते हैं।'

'हां, हम ही बनाते हैं।'

'तो हमारे नहीं बनाने से नहीं बनेगा।'

'जरूर नहीं बनेगा। और आदमी के सिवा कोई पाप को बना भी नहीं पाता है। दूसरे प्राणियों से आदमी अपनी इसी विशेषता के कारण अलग है। तुम सोचती हो कि तुम या मैं आदमी होकर अपनी इस विशेषता से पूरी तरह विहीन या उत्तीर्ण हो सकते हैं। नहीं, नहीं हो सकते। इसलिए पाप को रहने देना और उससे डरते रहना चाहिए।'

'यू शॉक मी।'

मैंने कहा,—'तुम्हें मालूम नहीं कि इस समय तुम मुझे कितनी कमनीय लग रही हो और निश्चय से कह सकता हूँ कि मेरे सम्बन्ध में तुम अपने में उतनी विवश नहीं हो—' सुनते हुए बीच में ही अपरा उठी, नाहक अलग रखी ट्रे को उसने फिर उठाया और जा कर दूर कोने में रखने चली गई। आई तो मैंने कहा 'लेकिन अपने से पार के सुन्दर और सत्य के साक्षात पर डरना ही होता है।'

'मैं माफी माँगती हूँ, यू आर बोल्ड एण्ड ट्रयू, एज इनडीड ए मैन एलोन केन बी।' फिर मानो बात हटाने के लिए बोली, 'सुनिए अपने आदित्य के बारे में आप क्या सोचते हैं ?' 'आदित्य। तुम उसे कैसे जानती हो ?'

'यूं ही पूछा। इज ही वैरी वैरी रिच—एनी वे, ही केअर फॉर यू ए गुड डील।'

मुझे अच्छा नहीं लगा, पूछा 'तुम उसे जानती कैसे हो ?'

'वह आनन्द जी के पास आए थे, कहने कि बाबू जी अकेले न जायेंगे, साथ जरूर किसी को भेजना पड़ेगा। ए० सी० ट्रेवल के लिए उनकी ताकीद थी। मैं तब वहीं बैठी थी।

'तो—?'

लेकिन आदित्य ने मेरी तरफ देखा। मुझ से पहले परिचय न था, लेकिन कहा, सुना है, आपको भी माऊंट आबू जाना है। मैंने कहा, हाँ आनन्द जी के साथ मैं जा रही हूँ। बोले, नहीं आप बाबू जी के साथ जाएंगी। आप ना नहीं कह सकती। मैं निश्चिन्त रह सकूंगा और आपका मुझ पर अनुग्रह होगा। गुरुजी, बस यही तय रहा। आनन्द जी ने मुझसे पूछा, और मैं चुप रह गई। आदित्य ने कहा, दुःख है मैं रुक नहीं सकता। नहीं तो जैसे हो आपको मना लेता आज ही जाना पड़ रहा है, मेरी अनुपस्थिति में देखिए आप मुझे डुबा नहीं डालेगी। मैं चलूं बहुत-बहुत आभार—ही वाज प्रेटी क्लेवर, यूअर आदित्य, ही कुड हैव हिज वे इनडीड।'

सुनकर मन में चित्र उलझ गया। अपरा ठीक आदित्य ठीक। लेकिन आसपास आकर मानो दोनों चित्र स्वच्छ से हठात् कुछ धूमिल हो आए। दोनों वेग शील प्राणी हैं। परस्परता घनी हो उनके बीच तो जाने क्या सूरत न बन आए। बहुतेरा इस व्यर्थ विचार से मैंने अपने को बचाना चाहा। लेकिन अपरा को लेकर मन सम्भावनाओं में घुमड़ने लगता था। उसके व्यक्तित्व से जाने ऐसा क्या स्फुरित होता था कि—उलझन को लेकर मैं अधिक नहीं ठहरा। शेव इत्यादि का सामान लिया और बाथरूम में आ गया। वहां मुझे कम समय नहीं लगा। आया तो तकियों का सहारा लेकर लेटी हुई अपरा पुस्तक पढ़ रही थी।

उसे मालूम नहीं हुआ। मैंने कहा, 'खद्दर की चादर तुम्हें चुभ रही होगी न।'

वह बिस्तर से हड़बड़ा कर उठी, कपड़े ठीक किये, कहा, 'आप कब आ गए। बैठिए-बैठिए।'

'बड़ी मग्न होकर पढ़ रही थीं, क्या पुस्तक है?'

पुस्तक उसने मेरे सामने की जो समाज-शास्त्र के विवेचन का ग्रन्थ था।

मैंने कहा, 'तुमको मालूम है, आदित्य पढ़ने-पढ़ाने की इल्लत नहीं पालता है।'

'एण्ड व्हाइ शुड ही ? मस्ट ही नाट लिव लाइफ फर्स्ट हैंड ?'

'तुम पढ़ रही हो—यह सैकिन्ड हैंड काम है ?'

'आप के रहते तो किताब खोलने की गलती मैंने नहीं की। टु लिव विद बुक्स इन्स्टेड आफ मेन इज आलवेज सैकिण्ड-हैंड।'

—यह सबेरे की बात है। आबू स्टेशन चार-पांच के बीच पहुँचना हुआ। तब तक अपरा ने मुझे खाली नहीं रखा, न अपने को फुरसत दी। लंच के बाद एक डेढ़ घण्टा आराम किया और करने दिया, यही बहुत। लेकिन कहना होगा कि उसके साथ की चर्चा-वार्ता से ऊब नहीं हुई, बल्कि ऐसा लगा कि जीवन में नये रस और आयाम का परिचय प्राप्त हुआ है।

स्टेशन आने पर अपरा ने मुझे उतरने दिया और स्वयं सामान वगैरा का चार्ज ले लिया। मैं उतरा उससे कोई मिनट भर के अनन्तर गुरु आनन्द माधव के साथ पन्द्रह-बीस लोगों की टोली ने आ घेरा। गुरु ने कहा, 'कहो, प्रसाद यात्रा में कष्ट तो नहीं रहा—वन्या कहाँ रह गयी :—अरे वन्या।'

भीड़ के पीछे से निकल कर वन्या प्रगट हुई, मेरे पैर हुए और मैं चकित रह गया। ढाई बरस में वह काफी बदली और भरी दीखती थी मैंने कहा, 'अरी वन्या तू कहां, कैसी है ?'

'देख लीजिए, आज्ञानुसार भरती आ रही हूँ कि नहीं।'

बड़ी भव्य मालूम हो रही थी वन्या। पूछा योरुप कुछ बदला-बदलाया कि नहीं। इस बार तो चार पांच महीने तुम रही वहां ?' गुरु आनन्द माधव ने कहा, 'अपरा कहां है ? अरे देखना, वह सामान के साथ होगी। तुम जाना भई, या मैं ही देखता हूँ।'

'इस बार आपके लिए भी निमन्त्रण लाई हूँ। योरुप अब चलना ही होगा आपको भी।

'यह वहां किसको बहका डाला तुमने ? मैं और योरुप ?'

वन्या ने कहा, 'चुनौती से कब तक बचिएगा। सच तो बच सकता नहीं। मैं वन्या को देखता रह गया। क्या कहता ?

तीन

ठहरना वनानी अर्थात वन्या के साथ हुआ। वह मानी ही नहीं। इधर अपरा भी मुझको अपना दायित्व समझ बैठी थी, और वह मुझे दूसरे भरोसे छोड़ने को राजी नहीं थी। वन्या के पास ज्यादा सुविधा न थी। एक सहायिका थी, छोटी उम्र का एक नौकर, और मामूली से बरामदे और रसोई के अलावा ढाई कमरे। लेकिन सब था अत्यन्त व्यवस्थित।

आनन्द जी का आदेश था, अधिक से अधिक ४० मिनट लिए जा सकते हैं। गाड़ी पहुंचेगी और हमको तत्काल अनौपचारिक बैठक में आ जाना है। किन्तु गाड़ी में आनन्द माधव स्वयं ही आ पहुँचे। उस समय वन्या के साथ मैं चाय पर बैठा ही था। देखते ही बोले, 'नहीं-नहीं, आराम से पीजिए, जल्दी नहीं है।'

'आप भी आइए—आपको चालीस मिनट तो, देखिए नहाने-धोने में ही हो गया है !'

'कोई बात नहीं—अपरा कहां हैं ?'

वन्या बोली, 'वह तो शायद हमारे साथ चल नहीं सकी है, कपड़े धोने में लगी है।

'क्यों, वह क्यों नहीं चलेगी ? कपड़े होते रहेंगे'—और भीतर जाने को उद्यत होकर पुकार उठे, 'अपरा !' आवाज पर अपरा बाहर निकल कर आई। धोती का पल्ला कमर पर फेंटा हुआ था और नीचे से उठाकर दूसरे छोर से जो धोती जरा ऊपर अटकाई गई थी, सो पिंडलियाँ खुल आई थीं।

देखकर आनन्द जी ने कहा, 'यह क्या है, अपरा, चलना नहीं है, क्या ?'

गीले हाथ सामने करके बोली, 'देख तो रहे हैं। यह कर-करा के बाद में आ जाऊंगी—ऐसी मेरी वहां जरूरत भी क्या है।'

'मैंने कहा था कपड़े पार्वती देख लेगी' वन्या ने बताया, 'तुम चाय पर आओ और साथ चलना भी है।—लेकिन—'

अपरा ने कहा, 'अभी सब हुआ जाता है, आप इतने चलिए--चाहें तो गाड़ी भेज दीजिएगा।' कहकर अपरा तेजी से अपने काम पर चली गई।

आनन्द जी बोले, 'यह क्या हुआ है, अपरा को ? तुमने कुछ कहा तो नहीं उसे प्रसाद ?'

अब मैंने कहा, 'करने दीजिए न, पीछे आ जायेगी।'

''वनानि ऊंचे विचार की महिला है। विवाह नहीं किया और आरम्भ से अध्यात्म-चिंतन में रही है। वाग्मी, प्रांजल और प्रखर। वक्तृता करती है तो अनिरोध्य हो आती है। इधर अध्यात्म का स्थान क्रमश: विश्व-और-जीवन चिंतन लेता जा रहा है। उसी सम्बन्ध से इधर अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बन आए हैं। और वहां, सुनते हैं, मांग भी बढ़ती जा रही है।''

''चाय पर वनानि तात्विक और सघन हो आई थी। मैं सहता और समाता रहा था। वन्या का विचार होता जा रहा है कि कर्मयोजन सपरिणाम विशेष नहीं आयेगा। चैतन्य को ही मुक्त करना होगा। विशेषकर धारणाओं, लक्ष्यों और आदर्शों से मुक्त। पूर्व-निर्णीत जो

भी है, जीवन नहीं है. जीवन पर आरोपण है, इत्यादि। सुनने में बात बहुत अच्छी लगती है और मैं मान कर रह जाता हूं कि वनानि मेधाविनी है।'''

मैंने कहा, 'आनन्द जी, बहुत देर तो नहीं हो जाएगी, अगर अपरा को भी साथ ले लिया जाय।'

'साथ तो उसे आना था ही—पर देर अवश्य हो जाएगी।'

'वनानि,' मैंने कहा, 'तुम चाहो तो उसे साथ लेती आ सकती हो।'

'वह कैसे हो सकेगा,' वन्या बोली, 'मैं आपका भाषण मिस नहीं करना चाहती। मुझे साथ ही चलना होगा।'

'तो आइए—अपरा की चिंता छोड़िए। गाड़ी आ ही जाएगी उसे लेने. और वह हम सब में समर्थ है।'

गाड़ी में आनन्द जी ने बताया 'इस बैठक में बस पचास-एक जन होंगे। उद्घाटन, परिषद् का कल सवेरे है, वहाँ दो-ढ़ाई हजार भी हो सकते हैं। इस समय कार्यकर्ताओं में योग्य मनोभाव की भूमिका निर्माण करनी है। वन्या अपना मन्तव्य रखेगी—। हम लोगों में, मानना होगा, दो धाराएं-सी बनी जा रही हैं। एक जो चिन्तन—मनन को प्रधानता देती है, दूसरी जो कर्म को मुख्य मानती है। युव-जन को प्रतीत होता है कि तात्कालिक को दर-गुजर नहीं किया जा सकता। बुनियादी बातों के पीछे आज और अब की दुःख-दर्द की समस्याओं के प्रति ध्यान नहीं देंगे तो जनमानस से स्वयं कट जायेंगे। किसी ऐसे सात्विक और नैतिक तल पर जीने आ निकलेंगे हम कि अधर में हो रहेंगे, लाखों-करोड़ों के जीवन से अछूते, कटे और बिछड़े। तब हम पवित्र भर होंगे, शक्ति शाली नही हो पायेंगे।'

मैं सुनता रहा था। मुझ से भी ध्यान से वन्या सुन रही थी।

गुरु आनन्द ने कहा, 'वन्या, इस गोष्ठी का क्रम अभी निश्चित नहीं हुआ है न। हम लोगों ने सोचा था कि प्रसाद जी से शुरू करेंगे। लेकिन क्या कहती हो, अगर तुम पहले आरम्भ कर दो तो क्या चर्चा

में अधिक सत्व और सार नहीं हो आवेगा ? प्रसाद पीछे समाहार कर सकेंगे।'

वन्या ने कहा, 'मुझे तो विशेष कहना है नहीं, चर्चा के बीच में मन हुआ तो कुछ कह भी सकूंगी। इन्हें ही आरम्भ करने दीजिए।'

'नहीं,' गुरु बोले, 'तुम तुम्ही ही नहीं हो, हमारे बीच अनेकों की प्रतिनिधि कही जा सकती हो। यों शायद कुछ-न-कुछ कार्यवाही तो चल ही पड़ी होगी वहां, पर जाने पर मैं तुमसे ही कहने वाला हूं।'

और वही हुआ, कार्यवाही शुरू हो चुकी थी। हम लोगों के पहुँचने पर तनिक विघ्न तो पड़ा, लेकिन वक्ता की समाप्ति पर गुरु ने कहा, और वन्या ने आरम्भ किया। भाव पूर्ण वह भाषण था। प्रभावित न होना कठिन हुआ। उनकी यह बात कुछ को असंगत और दूसरों को विशेष सार्थक लगी कि—'हम लोग भारत की बात बहुत करते है। सोचते ही उस सन्दर्भ से हैं। लेकिन समय आगे बढ़ गया है और देश छोटे पड़ते जा रहे हैं। अब विश्व की भाषा में सोचना और करना होगा। भारत का अभिनिवेश और अभिमान हम पर सवार रहा तो हम भविष्य के संवाहक न हो सकेंगे। वल्कि प्रतिगामी ही ठहरेंगे। इसलिए समस्या को राष्ट्रीय मानकर और बनाकर हमें नहीं चलना है। सरकार और सरकार के कानून की तरफ भी नहीं देखना है। उस चिन्ता-समीक्षा में समय नहीं खोना है। राजनीतिक का वह स्वधर्म तो हो, हमें मानव-चेतना के तल पर काम करना है। वह संस्कारी काम करने-धरने की धूमधाम से संख्या-संगठन के बल से नहीं होगा। इसको चित्त प्रवाह की अर्गलाओं को पहले गिरा देना है।—मुक्त-चेता पुरुषों का उदय और आविभाव होगा, एक नये मानव और मानस का आविर्भाव, तब वास्तविक और जागृतिक क्रांति आयेगी। इसी से न हमने जयहिन्द की जगह जय-जगत का नारा स्वीकार किया है।'

वन्या इसी प्रकार ऊंची भूमिका से अपना प्रवचन करती रही। समाप्ति पर आनन्द जी ने कहा, 'हमारी बहन वनानि ने जो कहा, आप सब ने ध्यान से सुना। इस समय यदि वह सक्रिय रूप से हमारे काम

में नहीं हैं, एक विकसित क्षेत्र उनके आगे खुल आया है, तो भी वह हमारी है। पहले ही की तरह हमारे लिए माननीय है। उनका पराक्रम हम जानते हैं। उनके विचार को हमें सुनना है, गुनना भी है, टाल नहीं देना है। हम एक भारी मुहिम में लगे हैं। इसलिए हम अपने से भरे हो सकते हैं। काम का भी एक नशा हो जाता है। हमारी बहन वनानि जैसी प्रतिभाएं हमें सूचित करतीं है कि आवेश की जगह विवेक चाहिए और दूसरे दृष्टिकोणों के लिए सहानुभूति—। अब प्रसन्नता की बात है कि हमारे बीच मान्य बंधु प्रसाद भी उपस्थित हैं। मैं अब उनसे निवेदन करता हूं कि—।' मैंने असमंजस अनुभव किया। अनुभव किया कि जिनके पास निश्चय है, इसलिए जिनको जीवन का लक्ष्य और मिशन प्राप्त हो गया है, वे लोग भाग्यशाली हैं। वे चलते हैं और चलाते हैं, बढ़ते हैं और बढ़ाते हैं। इसलिए मैं विशेष नहीं कह सका। वहां उपस्थित जन अनुभवी सदाशय थे। उनके सामने सिखावन जैसी बात मुंह से निकल भी कैसे सकती थी। लेकिन जो प्रश्न मुझ को मथता रहता है वह यह कि सत्य क्या केवल सात्विक ही होता है, सूक्ष्म नहीं होता? जो अखण्ड है वह गुणाबद्ध की जगह क्या गुणातीत ही नहीं होगा? इसलिए गुणता को ही सत्यता मानने में खैर नहीं है। मनुष्य गुण-दोष के साथ अपनी इकाई में पूरा है। उस पूरे ही मनुष्य को लेना होगा। सज्जन को उठाकर उस द्वारा दुर्जन को दबाने की चेष्टा से जो होगा वह तो इतिहास में होता ही आया है। हर स्वयं न्याय-और-नीतिनिष्ठ होता है। अन्य को दोषी या दुष्ट और शत्रु तक ठहराता है। भले-बुरे और न्याय-अन्याय की इस मान्यता के बल पर ही सब युद्ध होते आये हैं। नहीं तो समाधान के भाव के साथ दूसरे की जान लेने का साहस और किसी तरह पैदा नहीं होता। लेकिन क्या उससे काम चला है? खासकर अब तो चल ही नहीं सकता। दूसरे को खत्म कर देने का विचार राष्ट्र-तल पर अब एकदम असम्भव हो गया है। शस्त्रास्त्र ऐसे बन गये हैं कि आक्रामक देश स्वयं भी नष्ट

होने से अब बच नहीं सकते हैं। सबको साथ स्वाह होना होगा। इस-लिए सत्-असत् की पहले जैसी बंद धारणा के लिए अब अवकाश नहीं है। आवश्यक हो गया है कि गुण-अवगुण की द्विधा से पार होकर सोचा और किया जाए। वह जिसको अद्वैत कहते हैं। अन्यथा मानव-जाति के लिए सम्भावना नहीं रह जाती है। इस मनोमन्थन को लेकर एक ही बात मैं कह सका कि—'मारने की बजाय अब मरने का हुनर सीखना और सिखाना है। मारने के लिए आवेग चाहिए, समाधान पूर्वक मरने में उतनी ही आस्था और निस्स्वता की आवश्यकता है। मारना, द्वेष और घृणा के बल पर होगा तो सद्भाव पूर्वक मरने के लिए उतने ही अटल प्रेम की शक्ति चाहिएगी। असल में निज के जीवन पर ही जिससे जोखम नहीं आता वह असली प्रेम नहीं है। इसलिए वह सच भी नहीं है। जो सुख-सुविधा वाला आराम दे डालता है वह न अध्यात्म है, न धर्म। वहां जरूर सत्य के नाम पर मन को बहका लिया गया है इसलिए मैं सिर्फ देखना यह चाहता हूं कि क्या आप सहर्ष जोखम को और मृत्यु को अपनाने की राह पर हैं। क्योंकि जो पूरा जीता है वह मौत में भी जीवन देख सकता है। वही है जिसके पास जीने के लिए कुछ है, और वही मरने के लिए। शब्द शहीद के खून से सत्य बनता है। यह साक्षात्कार जिसको हो जायेगा वह फिर दुनिया की पद-प्रतिष्ठा सुख-सुविधा खोजने नहीं जायेगा। वह अपने को अंजलि में लेगा और उसका जीवन आहुति की भांति हर पल जलेगा और उजलेगा—कृपया मेरे शब्द मुझ पर आप न कसें। तब आपको निराशा होगी। इसलिए अव्वल तो मैं आना नहीं चाहता था, आ गया तो कुछ कहना नहीं चाहता था पर कहना हुआ ही है तो वही कह सकता हूँ जो भीतर मुझको खुद चुभता और काटता रहता है। जो अयुक्त लगा हो उसके लिए मुझको और गुरु जी दोनों को आप क्षमा कीजिएगा। कारण—।'

कहते-कहते मैंने बीच में अपरा के लिए कई बार देखा था। पूछने पर मालूम हुआ गाड़ी जाकर लौट आई थी, अपरा नहीं आई थी।

अंत में आनन्द जी के साथ कुछ और लोग भी डेरे पर आए और मुझे जल्दी छुट्टी नहीं हुई। विशेषकर वनानि अनाश्वस्त थी। बोली, 'आप मृत्यु की बात क्यों कह निकले। मारने के अलावा मरने की भाषा भी हिंसा की है युद्ध की है। पर युद्ध का आतंक मानव ने बहुत भोग लिया है। वह तब तक ही है जब तक मनुष्य में पशु है। मनुष्य का अपना कृतार्थ शांत और सम्पन्न जीवन है। मृत्यु का विचार भी शांत-चित्तता के साथ असंगत है। सामन्ती और रोमांटिक मानस का अवशेष ही है यह जो हमें उस प्रकार सोचने को विवश करता है। जीने के बीच मृत्यु का प्रवेश आपने कहीं ड्रामा उत्पन्न करने के लिए तो नहीं किया!'

मैंने वन्या को देखा। हम बरामदे में बैठे थे। अपरा भी उपस्थित थी। एकाएक वह व्यग्र हो आई दीखी। इसलिए वन्या की जगह अपरा की दिशा में होकर मैंने कहा, 'तुम फिर आई नहीं वहाँ, अपरा?'

'जी, काम से ही देर में निपटी—फिर अगर ड्रामा की बात हो तो ऐसा आवश्यक भी नहीं था वहां जाना' कहकर अपरा तनिक तीखी मुस्कराहट में हंसी।

वह तिक्तता मैंने अनुभव की और मानो आश्वस्त करते हुए कहा 'वनानि का कोई आक्षेप तुम न मान लेना अपरा। वहां जो मैं कह गया उसी का संदर्भ है और तुम वहां थी नहीं।—बज क्या गया, ओः पौने नौ।—तो देर है शायद अभी—हां वन्या, हो सकता है जीवन में बीत कर मैं मौत के किनारे लगा आ रहा हूँ इससे···लेकिन हो तो कभी ठंडे में सोचना, प्रभु ईसा हुए, हज़रत मुहम्मद हुए, गांधी हुए। इनसे बढ़ कर शांति के और कौन लोग होंगे। लेकिन क्या बात है कि जब इनके भीतर शांति ही शांति थी, तब बाहर चारों ओर आग ही फैलती गई। ऐसी कि ईसा को क्रास पर चढ़ना पड़ा, मुहम्मद युद्ध में पड़े, गांधी जेल में जिए और गोली से मरे। क्यों ऐसा हुआ?—इसका मुझे उत्तर नहीं मिलता तुम ढूंढ़ना, उत्तर मिले तो मुझे बताना। मुझे तो लगता

है कि आदमी के प्रमाद को उन्होंने तोड़ा। और उसमें वह वस्तु जगाई, ज्योति कहो या ज्वाला, जो आदमी के चैन को खा गई। वह उठ खड़ा हुआ और सल्तनतें हिल आईं। शान्ति के इन देव-पुरुषों के लिए जीने का अर्थ मरने से अलग रह ही न गया। मैं नहीं जानता इसे मर कर जीना कहा जा सकता है या नहीं। जीवन-मृत्यु के बीच रेखा जैसे उनके लिए हुई ही नहीं। एक आस्था थी और उसमें मिल और मिट रहना ही मानो उन्हें सब कुछ था...'

मैंने देखा वन्या कुछ कह उठने को है। पर तर्क की बात न थी। इसलिए जल्दी में बोला, 'आप लोग अभी जाइयेगा नहीं, क्यों वन्या ?'

वन्या को भी कहना हुआ, 'जी हां, सब लोग यहीं भोजन करके जाइयेगा।'

आनन्द गुरु ने कहा, 'नहीं वनानि, हम चलेंगे अब'—और सबकी ओर से क्षमा मांगते हुए आनन्द माधव चले गये।

अपरा इस बीच गुम बैठी रही थी। उनके जाते ही उठी, बराबर से एक तकिया लिया और मेरे पीठ पीछे वाले पर उसे भी जमा दिया। जाते हुए बोली, 'देखती हूँ, कितनी देर हैं अभी।'

अब वन्या थी और मैं था। कुछ क्षण कोई नहीं बोला। मानों अपने अन्य विचार के साथ होकर वन्या स्वयं भी अन्य हो गई हो। जैसे बीच में व्यवधान भर रह आया हो। कि एकाएक वन्या ने पूछा, 'अपराजिता कहां सोयेगी ?'

मैं स्वयं प्रश्न-सा पूछता उसकी ओर देखता रह गया।

'यह बरामदा तो ठंडा रहेगा और कमरे में आपका बैड है।'

कुछ मेरी समझ में न आया, कहा, 'तो—?'

'पार्वती के कमरे में लगा दूं एक खाट ?'

मैंने टालने के लिए कहा, 'तुम जानो।'

'वह हैं कौन ?'

'—या मेरे ही कमरे में रहने दो।'

'आपके कमरे में !—वह रिश्तेदार हैं ?'

मैंने हंसने की चेष्टा करते हुए कहा, 'साथ आई है न ।'

उसे समाधान न था । मुझे प्रश्न ही असंगत मालूम होता था। वह अनुचित तक लग रहा था । कहा, 'रामेश्वरी को वचन देकर अपरा साथ आई है कि मेरी देखभाल रखेगी । विशेष आनन्द जी से पूछना, मैं भी नहीं जानता ।'

'देखती हूं, आप पर अधिकार मानने लगी है वह ।'

'सो तो है ही । पत्नि की ओर से जो पूरा अधिकार मिल गया है' 'मैं हंसा और क्षण बाद देखा कि अपरा ने आकर कहा है, 'आइए चलिए खाना लग गया है ।'

मैंने ध्यान किया कि वन्या के इस डेरे पर अपरा हम लोगों की चर्चा में बिल्कुल शामिल नहीं होती है । निरी परिचारिका बनी हर छोटे-मोटे काम में अपने को फंसाए रखती है । मुझे अपने हाथ से गिलास पानी भी नहीं लेने देती । कपड़े धोती है, तहाती है, जूते पर पालिश करती है, झाड़ू लगाती है । वेष भी उसी प्रकार गया-बीता रखती है । मानों इसके अतिरिक्त उसे कुछ आता ही नहीं । मैंने चाहा कि वह स्वयं और वन्या की साथिन बन कर रहे । पर साथिन उसने पार्वती की होना पसंद किया है और वन्या की मानों नौकरानी । वन्या की उधर चिंता न गई और उसे जैसे इसमें कुछ अनुचित भी नहीं प्रतीत हुआ । सच यह कि वन्या पार्वती के प्रति बहुत उदार व्यवहार रखती थी । पार्वती का अपने को तनिक भी हीन मानने का अवकाश न था । इसलिए वन्या अकेले होकर जब मुझसे ऊंची बड़ी बातें कर निकलती तो अपरा कहीं आस-पास भी न होती और मैं साथ तो देता पर मन मेरा ठिकाने नहीं रहता था ।

पहली ही रात को अजब सी घटना हो गई । कमरे में अपरा का बिस्तर नहीं लगा । मेरा उधर विशेष लक्ष भी नहीं गया । रात को बीच में मुझे उठना पड़ा, और बत्ती जलाई तो देखा, नीचे फर्श पर दरी

तकिया डाले अपरा सोई हुई है। कुछ मैंने कहा नहीं, और निपट कर उसी तरह चुपचाप सो गया। सबेरे उठा तो साधारण की भांति अपरा अपने काम में थी। झाड़ू आ गई थी, बिस्तर यथास्थान तह किए हुए रखे थे। उसने जब नीबू-पानी का गिलास मुझे दिया तो मैंने पूछा :

'क्यों, अपरा, क्या बात है ?'

हंसकर बोली, 'कैसी बात ? क्यों, नीबू ठीक नहीं बना ?'

'तुम सोई कहां थी ?'

'पार्वती के साथ मेरा बिस्तर किया गया था, वहीं सोई।' और कहा 'पार्वती बड़ी अच्छी है।'

'वहीं सोई थी ?'

'और नहीं तो—'

'तो फिर कमरे में नीचे फर्श पर आकर कौन पड़ा था—सच कहो क्या बात है ?'

'तो रात आप उठे थे—' हंसते हुए अपरा ने कहा, 'मुझे क्यों नहीं जगाया अगर कुछ काम था। इसलिए आ गई थी कि रात को शायद जरूरत पड़ जाये।'

'लेकिन तुम्हारा पलंग इस कमरे में क्यों नहीं लगा ?'

'वही व्यवस्था है तो वही ठीक है—पार्वती के साथ ही ठीक है' कहा, नीबू-पानी का गिलास मेरे हाथ से लिया और वह चली गई।

चली तो गई। लेकिन दिल्ली में और रेल में जो अपरा मिली थी उसको मैं यों चली जाने वाली इस अपरा के साथ मिला कर देखने लगा। कहीं संगति नहीं दीखी और मुझे विलक्षण मालूम हुआ।

अगले रोज का अधिवेशन शानदार हुआ। महामहिम राज्यपाल आये थे और नगर में उत्सुकता थी। लोकतंत्र का यह आशय तो नहीं है कि राज्यपाल के पद में महिमा ही न रहे। उस पद पर जो बन्धु थे वह अपने को असामान्य नहीं गिनते थे। इसलिए उत्कंठा बल्कि और बढ़ी चढ़ी थी कारण, स्वयं वह कितने भी साधारण लिबास में हों, राजैश्वर्य के चिन्हों

में विहीन जो न थे। जनता के लिए वे प्रतीक ही प्रधान थे। जनता सच बड़ी ही मूलभूत संज्ञा है। प्रचलित राजशास्त्र का वही आधार है। नेता उसके बिना नहीं जीते। उसी के हित में उन्हें एक दिन जेल जाना होता है तो दूसरे दिन राज करना पड़ जाता है। इसलिए जनता के सामने तनिक चमत्कार के साथ रहना चाहिए। लोग कहते तो हैं यथार्थ। पर सबमें बड़ा यथार्थ यह है कि जन और जनता रोमांस पर जिया चाहते हैं। रोमांस की यह खुराक का जो साहित्य और राज-कारण जुटा नहीं पाता वह व्यर्थ और विफल ही रह जाता है। लेखकों में लेखक वह, और नेताओं में राजनेता, जो कुछ अचरज भी जनता के समक्ष प्रस्तुत किये रहता है!

उस अधिवेशन की मुझे याद रहेगी। याद इसलिए कि नेता और जनता के सम्बन्ध का भेद कुछ प्रत्यक्ष होता दीखा। नेता जनता का है, पर इस ध्यान के साथ कि उससे अधिक वह अपना हो। उसका तादातम्य जनता के पार किसी इतर तत्व के साथ होना आवश्यक है। जनता के साथ हो तो यह नहीं कि नेता वहाँ खोया हो··· खैर, अधिवेशन सफल रहा और मैंने ज्यों-त्यों उद्घाटन का काम निबाहा।

पर अपरा वहां कहां थी? मंच पर थी नहीं, शिष्ट वर्ग के बीच भी कहीं नहीं दीखी। अन्य सैकड़ों महिलाओं में कहीं हो तो होगी। वह मेरे साथ कार में नहीं आई थी। कहा था, लेकिन वह काम से नहीं निपटी थी। पीछे से पार्वती के साथ पैदल चल कर आई हो तो भले आई हो।

समाप्ति पर कार में बैठ कर चलने लगे तो मैंने वन्या से कहा, 'देखना, अपरा कहां रह गई। लाओ तो उसे।'

वन्या ने खोजखाज कर देख लिया। आकर कहा, 'वह तो कहीं मिली ही नहीं, कोई कह रहा था वह चली गई।'

'चली कैसे गई!' मैंने झींक कर कहा, 'उसे ख्याल रखना था—तो देखना, गुरुजी को देखना।'

गुरु जी आप ही उपस्थित हो गये, बोले, 'शाम का निमंत्रण है महामहिम का, आपको मालूम ही होगा।'

मुझ पर झक सवार थी, पूछा, 'आपने भेजा है अपरा को किसी सवारी से ?'

'क्या अपरा अधिवेशन में थी ? मैंने तो उसे देखने नहीं।'

'देखिये आनन्द जी, मेरे साथ उसे असुविधा हो रही हो तो दोष आपका होगा। उसे आपके यहां होना चाहिये। तब कठिनाई न थी।'

'वह आपको अपनी सिपुर्दगी में जो मानती है।' आनन्द जी ने कहा, 'मगर आप उसकी फिक्र क्यों करते है। वह किसी के बस की नहीं है।— वन्या, तुमने कार्डस ले लिये हैं न ?'

वन्या—'हां, मेरे पास हैं।'

आनन्द जी ने कहा, 'गाड़ी ठीक पौने सात बजे पहुँच जायेगी, आप लोग तैयार रहियेगा।'

होगा कुछ, मैंने उधर चित्त नहीं दिया और कार चलने दी। जा रहे थे कि राह में पार्वती के साथ पांव-पैदल चलती हुई अपरा दिखाई दे आई।

गाड़ी रोकी, और झिड़की से कहा, 'यह क्या है अपरा ? वहाँ तुम्हें इतना देखा, कहीं मिली नहीं। आखिर तुम्हें ख्याल रखना चाहिये—अब आओ, बैठो।' अपरा बोली, 'आप लोगों में घिरे थे, क्या करते ? और हमें काम के लिए जल्दी आना था। सबेरे बस एक आध सब्जी ही बन सकी है। हम जानते थे, आपको जाने कितनी देर और लगे। इसलिए खत्म होते ही हम फौरन चल दिये।'

"अपरा ने पार्वती को पीछे कार में हमारे साथ बिठाया और खुद आगे ड्राइवर के पास बैठ गई। मैं अचरज में था कि इसकी अंग्रेजी कहाँ एकदम गायब हो गई है और यह उसको क्या हो गया है। वन्या मेरे पास बिना बोले बैठी रही और यह उसकी चुप्पी मुझे नागवार हुई।"

"शाम को हम लोग राज्यपाल के डिनर पर यथा समय आ पहुँचे। पड़ौसी राज्य के राज्यपाल महोदय भी संयोग से माऊंट आबू आ गए हैं। उनके उपलक्ष्य में परिमित बन्धुओं के भोज का आयोजन है। हमारे कुछ ही पीछे कतिपय गण्यमान्य अतिथियों के साथ गुरु आनन्द माधव आये। वह बहुत ही मिलनसार हैं और ऐसे समागम में तिरते हुए से चलते हैं।

शिष्टाचार उन पर बन्धन की भाँति नहीं रहता। लोगों का अभिनन्दन करते और अभिवादन लेते हुए वह जब मेरे पास आए तो उन्होंने जरा इधर-उधर देखा, कहा, 'अपराजिता कहां है ?'

मैंने पूछा, 'उसे आना था क्या ?'

'क्या कह रहे हैं ? आना क्यों नहीं था ? उसके नाम का अलग कार्ड था।'

मुझे कार्ड का पता नहीं था ? यूं ही कहा, कार्ड था तो जरूर दिया होगा।'

वन्या हमसे दूर नहीं थी, आनन्द जी ने उसे पास बुलाया, कहा, 'अपरा का कार्ड उसे दे दिया था न तुमने ?'

'हां दिया था। कहा भी, पर उसने टाल दिया। उस जिद पर फिर जोर मैं क्या देती !'

'कोई बात नहीं,' गुरुजी बोले, 'मैं गाड़ी भेजता हूं। ले आयेगी।'

अभी हम लोग बाहर लान में बैठे थे। पेय आदि चल रहे थे। इक्का-दुक्का मेहमान भी आते जाते थे। बीस एक मिनट बीते होंगे कि अपरा आई। देखकर दंग रह जाना हुआ। एकदम बदली हुई, मानो राजसी घराने की कोई अतिशय माननीया हो। वेष सर्वथा उपयुक्त और उसी के अनुसार अत्यन्त सम्भ्रान्त व्यवहार। जैसे उस । अपना पदस्थ निश्चित हो और इस वातावरण की वह अभ्यस्त हो। सबके प्रति हल्का सा नमस्कार करती हुई वह, सीधी हम लोगों के पास आई और कहा, 'नमस्ते, वन्या दीदी।'

'नमस्ते,' वन्या ने कहा, 'आखिर तुम आ गई।'

'गुरु जी का आदेश हुआ, आ गई।' वन्या के स्वर में कुछ हो तो उसने उधर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया और उपहार लेकर घूमते हुए बैरा के हाथ में थमी प्लेट से उठाकर काजू के दाने एक-एक कर हम सबके सामने दिये।

मुझे वह अपराजिता भूलती नहीं है। कारण, डेरे पर आते ही वह

ठेठ नौकरानी बन आई थी। पार्वती के साथ होकर अपनी खाट पर सो जाती, आधी रात मेरे कमरे में फर्श पर आ पड़ती, उसी तरह कपड़े धोती और जूते चमकाती। पार्टी के साथ जितनी खिली और खुली दिखाई दी, डेरे पर उतनी ही बन्द और नियुक्त। दोनों जगह वेष और व्यवहार भी उसका तदनुकूल था। वहाँ अगर वह रानी थी तो यहां एकदम नौकरानी ही लगती थी।

सवेरे वन्या सदा की भांति मेरे साथ गंभीर चर्चा में थी। आशय था कि मैं अपने विचार को लेकर अपनी ही भाषा और अपने ही देश में न सड़ता रहूँ। बल्कि सड़ी दुनिया से जाऊं और इस बार योरुप में मेरे लिए व्याख्यानों की व्यवस्था वह स्वयं करने वाली है। तभी पार्वती को हाथ से खींचती हुई सी अपरा कमरे में आ धमकी। बोली, 'सुना आपने पार्वती यह क्या कहती है? कहती अब क्यों नहीं री!' पार्वती झिझकती हुई रह गई और उसने कुछ नहीं कहा। फिर स्वयं बोली, 'अच्छा न बोल—कहती है, दीदी रानी को यह पसन्द नहीं है। पूछा, तो साफ कहती नहीं : कि क्या पसन्द नहीं है। आप ही पूछिए, दीदी रानी, इससे कि आपको क्या पसन्द नहीं है?' वन्या ने डपटकर कहा, 'पार्वती, क्या तुम वकती फिरती हो। जाओ, तुम जाओ।' अपरा ने नहीं रोका और पार्वती चली गई।

वन्या ने कहा, अपराजिता जी, बैठिए—अब बताइए आपको पार्वती से क्या शिकायत है।'

'हंसकर बोली, मैं खड़ी ही ठीक हूँ। आप कहती, वताती थी कि ऐसी तो कोई अपने आदमी की भी खिदमत नहीं करता। पूछ रही थी कि आधी रात उठकर खाट से मैं कहीं चली जाती हूँ। मैंने कह दिया, चली कहाँ जाती हूं, कमरे में मालिक के पास आ जाती हूं। बोलती थी, मैंने रानी दीदी से कहा, उनको सुनकर बहुत बुरा लगा है। अब बताइये आप ही कि रात को इन्हें कुछ जरूरत पड़ जाए, और मैं गैर-हाजिर मिलूं तो वहाँ इनकी पत्नि रामेश्वरी जी को मैं क्या जवाब

दूंगी ? नागवार तो आपको लगा होगा। लेकिन धर्म-पत्नि नहीं हो सकती हूं, तो उनके अभाव में क्या—क्या उप-पत्नी बनने के कर्त्तव्य से भी मुझे बचना चाहिए ?' कहकर वह स्मित व्यंग्य से हंसने लगी।

मैंने डाटकर कहा, क्या बकवास है। जाओ अपना काम देखो।'

एकदम हंसी रोककर कृत्रिम नम्रता से वन्या को देखती हुई वह वहां से चली गई।

चली गई तो वन्या अब अंग्रेजी में पूछ बैठी, 'हू इज शी ?'

मैंने अपनी ही भर्त्सना करते हुए कहा, 'सुना तो गई है वह, तुमने सुना नहीं !'

बोली, 'बट शी इज इमपौसिबिल।'

मैं भी व्यंग्य से हंसा, कहा, 'इमपौसिबिल क्यों कहती हो ? जबर्दस्ती प्रत्यक्ष का अविश्वास करना चाहती हो।'

'आई कुड नाट इमैजिन—।' उसने मानो तनिक सदय होकर कहा।

मैंने जैसे उसका पक्ष लेते हुए कठोरता से कहा, 'अब बताओ, तुम्हारा क्या यह कर्त्तव्य नहीं है कि रामेश्वरी को लिखो और मुझे सही रखने का यत्न करो—।' मैं कुछ ठहरा, फिर कहा—'लेकिन एक बात है। अपरा वापिस जाकर रामेश्वरी से शायद खुद यह कहानी ले बैठेगी !' वन्या आंख फाड़े मुझे देखती रह गई, बोली, 'इनडीड, विल शी ?'

'हां, हो भी सकता है। उसका कुछ ठिकाना नहीं है।—सुनो, तुम्हारा घर तुम्हे लगता हो कि अपवित्र हो रहा है तो बता देना—।' और हठात मैं मुस्करा आया। वन्या मुझे देखती रही, कुछ बोली नहीं। जैसे उसे समझ न आ रहा हो। फिर भी मानों अपने से अवश होकर कहा, 'आप इसे ठीक समझते हैं ?'

'किसे ठीक समझता हूं, वन्या ?' मैंने कहा, और कुछ ठहरा, फिर कहा, 'नहीं, संशय को ठीक नहीं समझता। तुमसे कुछ था तो मुझे कहतीं,

अपरा से कहतीं। उसे अपने मन में क्यों रखे रह गई? तुम्हारा अध्यात्म इसकी इजाजत देता है?'

उसने भी अब मुझे भरपूर देखा. कहा—'नहीं. अनैतिकता की इजाजत नहीं देता।' कहकर वह कुछ रुकी, फिर बोली. 'और, व्यवहार की मर्यादाएं होती हैं।'

'और वे अमिट होती हैं।' झपटकर कहते हुए मैंने उसे देखा, बोला. 'और शायद आप ही के पास रहती हैं।—आप मर्यादा रखिए, हमको अभी यहां से निकल जाने दीजिए।...अपरा. ओ अपरा!'

'यह क्या कर रहे है आप?' घबराई सी वन्या बोली, 'चुप कीजिए, चुप'. और उसी समय कमरे से वह निकली और बाहर से उसे बन्द करती गई।

इस प्रकार कमरे में बन्द होकर, बताइए, हंस आने सिवा मुझसे क्या हो सकता था?

चार

दरवाजा बन्द हुआ, लेकिन वन्या ने किया नहीं। मानों वह बेबस थी। मुझको वह मानती आई है। मुझी से उसके विश्वास को ऐसा धक्का लगे, और वह विमूढ़ न हो तो क्या हो। उसमें दावा हो सकता है कि मैं उसकी श्रद्धा जितना ऊंचा रहूंगा। वहीं उसका भरोसा मुझसे टूटा है—इस तरह मैंने अपने को बहुतेरा समझाना चाहा, पर वन्या के प्रति मन अनमना ही रहा।

'यह क्या !—अन्दर आप ? मैं समझती थी—।'

कहा और कमरे में मुझे पाकर अपरा अचरज में देखती रह गई। मैं एकाएक कुछ बोला नहीं तो वही बोली, 'वनानि देवी को अपनी जगह आया देखा तो मैंने सोचा—। पर दरवाजा बाहर से बन्द कैसे हुआ ?'

'मैंने ही कहा था, वन्या को बन्द करने को।'

सुनकर अपरा जरा स्मित से मुस्कराई, मुझे देखा, कुछ भी पूछा नहीं, चुपचाप साथ लाए कपड़े तह किये और निपटा कर चुपचाप चली गई।

वन्या को मुझे समझना चाहिए। उसको काफी संताप है इस पर कि शिथिलाचार बढ़ रहा है, जीवन भोगाभिमुख होता जा रहा है। विज्ञान बढ़े तो क्या मानव चरित्र को घटना ही चाहिए ? होता यही दीख रहा है। सभ्यता के इस विष्फल पर वन्या में उत्क्रोष है। उसने संकल्प बांधा है कि इस गिराव को रोकना होगा। जीवन को उसकी सही धुरी पर फिर से निष्ठ और प्रतिष्ठ करना होगा। इस सम्बन्ध में वह मुझसे आशावान है। वही उसकी आशा एकदम चकनाचूर हुई है तो—अपने बावजूद उसके पक्ष से मैं अपने साथ यह विवाद कर रहा था कि वन्या स्वयं आ उपस्थित हुई। चेहरे पर उसके विशेष तनाव नहीं दीखा। हाथ में एक कागज था। मैंने मानों प्रश्न पूछते हुए उसे देखा।

'प्रिंस होटल में एक आदमी आनन्द जी के यहां से आया और यह कागज लाया है।'

'क्या कहता है ?'

'कागज में लिखा है, बम्बई से आदित्य जी का फोन है। उनका आदेश है कि आप सात तारीख तक यहां हों तो होटल में एक बड़े वाला फैमिली सुइट रिर्जव करा लिया जाय।'

'बम्बई से फोन है ! आदित्य का ?'

'आदमी बाहर खड़ा है, अन्दर बुलाऊं ?'

'नहीं।—सात तारीख के अभी पाँच रोज हैं।—खैर, कहो उसे कि

कल आयेगा शाम। अभी नय नहीं है।'

वन्या ने अचरज में कहा, 'क्या आप रात तक भी नहीं ठहरेंगे ?'

'आदमी से कह दो कल शाम के लिए—और अपरा को जरा भेजना।'

समझता था कि वन्या इस मेरे रूख पर वह अपमान मानेगी और एक क्षण नहीं ठहरेगी। ध्वनि में मेरे प्रकट उपेक्षा थी। पर वन्या ने सुन लिया, गयी नहीं, बोली, 'आप नाराज हैं, मैं जानती हूँ। पर आप जा नहीं पाइयेगा।—अपरा का पलंग अब आप वाले कमरे में ही लगेगा—मुझे मालूम नहीं था—।'

'क्या मालूम नहीं था तुम्हें ?'

'कि आप इतने ज्यादा नाराज होंगे—कहे देती हूँ मैं आदमी को कि रात तक ही नहीं, आगे भी आप यहीं हैं और वे जगह रिजर्व रखेंगे—शांति-धाम की भी बात अभी बाकी है। कल तक तो परिषद् है, फिर धाम के बारे में निर्णय लेना है। आप हैं, गुरुजी हैं, संयोग से आदित्य भी आ रहे हैं। ऐसा अवसर—।'

बीच में ही काट कर मैं बोला, 'तुमसे कहा आदमी को कह दो कल आये और—अपरा को भेज दो।'

इससे अधिक संकेत क्या होता। लेकिन वह नहीं गयी। बोली, 'आपने जरा बात को गहरे में ले लिया है। उसे भूल जाइये—'

मैं मानो कहीं पार देखना चाह रहा था, हम-तुम के पार। वहां सब धुंधला हो आता था। उस धुंध से निगाहें वापिस ली, वन्या को सीधे देखा, कहा, 'तुम्हारे शाँति-धाम में क्या यह शिथिलाचार सहा जायेगा ?'

सुनकर वन्या क्षमाप्रार्थी सी हो आई। मानो दोष हुआ हो, यद्यपि उसका दोष न हो, बोली, 'अब उस बात को खत्म कीजिए—अपराजिता आपके साथ आई हैं। उनका अपमान हुआ हो तो माफ़ कीजिए। पर वह आपके-हमारे वर्ग की नहीं है। सही है कि आप उसकी मान रक्षा के लिए आतुर हो। पर क्या उनको तनिक विवेक और विचार नहीं

हो सकता था—खैर छोड़िए—होटल की कार है, सोचती थी जरा गुरुजी की तरफ हो आती, उनसे समय स्थिर कर लेती—होटल में कमरे भी देखती आऊंगी—हो आऊं ?'

मैंने बात को मोड़ते हुए कहा, 'कमरे-वमरे को छोड़ो, अपरा को भेजती जाना।'

कमरे के बारे में सुने को अनसुना करती हुई वन्या चली गयी। वह प्रसन्न नहीं गई, लेकिन अपरा को उसने भेज दिया।

अपरा के आने पर मैंने कहा, 'क्या कर रही थी—तुम्हें मालूम है, अपरा, सात को हम लोग रहें तो आदित्य आने वाला है!'

सुनकर अपरा प्रसन्न हुई, बोली, 'कब आयेंगे ? बच्चे और रामेश्वरी जी भी आएंगे।'

'ऐसा ही मालूम होता है।'

'तब तो खूब रहेगा, लेकिन आप सोचने क्या लगे ?'

'सोच रहा हूं कि मैंने आदित्य को कहा था, माऊंट पर कुछ दिन रहूँगा। पर अब कैसे हो सकता है।'

'क्यों' क्या हो गया है ऐसा अब ?'

'तुमने बखेड़ा जो खड़ा कर दिया है।'

'बस इतनी सी बात! तो लीजिए, रात आप अपने भरोसे रहिए, मैं भर नींद पार्वती के पास सोऊंगी। छोड़िये भी—ये सब लोग ठहरेंगे कहाँ ?'

'आदित्य ने बम्बई से फोन किया है प्रिंस में रिर्जवेशन के लिए।'

'हम लोग भी वहीं जायेंगे ?'

'शायद कहीं कोई नहीं जायेगा—आज दो हो गयी है, परिषद् कल खत्म होगी। सात तारीख में पूरे चार दिन बाकी रहते हैं। ये दिन माऊंट पर कहीं दूसरी जगह रहे तो वन्या को बुरा लगेगा। यहां रहने से भी मन पर उसके दबाव आ रहा है। इसलिए परिषद् के पूरा होते ही मैं दिल्ली

क्यों न चला जाऊं ? तुम—तुम गुरु जी के साथ हो ही ।'

'आप तो ऐसे कह निकले—जैसे आप अपने हो । जी नहीं, रामेश्वरी जी के हाथ सौंप दूं उससे पहले मेरी छुट्टी नहीं है और—।'

'मैं घर ही तो जा रहा हूँ। तुम्हारी सपुर्दारी वहां तक थी सो हो गई—और वन्या को रंज था. कहती थी, तुम्हारा पलंग अब कमरे में ही लगेगा।

'लगेगा कमरे में !—अब रानीजी उदार बनने बैठी हैं। मन तो है इतना सा 'कहकर उसने हाथ की उंगलियों को ऐसे बनाया जैसे चूहे का मुंह हो 'और दीखेंगी जाने क्या। आई बड़ी—'

'सोचो अपरा. क्या तुम्हारा व्यवहार गलत न था।'

'देखिए, मुझसे ज्यादा न कहलाइये । मैंने सब सुन लिया है । आपने कहा था अपरा का बिस्तर आप वाले कमरे में लग सकता है । सब लाँछन और सब सम्भावना अपने ऊपर लेकर आपने यह कह डाला था । फिर आप पर गुरुआनी बनने की रानी जी को क्यों सूझी ? हैं तो हो बड़ी धर्मात्मा, लेकिन यह बात सुनकर मैंने तय कर लिया कि लगा दें वह बिस्तर जहां चाहे, लेकिन मैं उनके मिथ्या अभिमान को नहीं चलने दूंगी। उस नीति-दर्प को आप सह लें, मैं क्षमा नहीं कर सकूंगी। आप गलती मेरी बताते हैं, लेकिन दोष है कहीं तो उनके दिल में है। बस लिहाज आपका है। नहीं तो—लेकिन आदित्य आते हों तो आप जा नहीं सकेंगे। यहाँ हो तो यही रहेंगे और देखेंगे आप कि वनानि जी को मैं कैसा मना लेती हूँ। मानिए, चिन्ता में न रहिए और—रामेश्वरी जी के आते ही फिर यह अपरा ऐसी चली जायेगी कि आपकी चिन्ता हमेशा को कट जायेगी।'

'यह क्या कह निकली हो तुम अपरा ? समझती हो मैं तुम्हें गलत समझूंगा ?' अपरा चुप रही। उसके मुंह पर उदासी फैल आई। धीमी होकर बोली, 'जाने चरित्र को क्या समझा जाता है। और आप भी—और इंगलिशमैन होकर वह चार्ल्स—हम क्या एक दूसरे की हमदर्दी में

भी निडर नहीं हो सकते ? फिर हैं किसलिए ?—वैल, नेवर माइंड। यूं आँट गोइंग—आदमी आया था आपने क्या कहला दिया उसे ?'

'और क्या, यही कि कल आयेगा, अभी निश्चय नहीं है।'

'निश्चय अब भी नहीं है जबकि मैं—यानी मेरा आश्वासन है।—रानी जी क्या कहती हैं ?'

'सुनो अपरा, मैं रहना चाहता था, यहाँ चाहता हूं। लेकिन अब शायद वह हो नहीं सकता। तुम हो, वन्या है, आदित्य के साथ और सब भी आ जायेंगे—मैं कुछ समय के लिए अकेला होना चाहता था। वही सम्भव न हो तो फिर बेकार।'

'हम और दूसरे लोग बाधा होते हैं आपके लिए ?'

'होने तो नहीं चाहिए। लेकिन जिन्दगी का हिसाब मेरा साफ नहीं रहा। आगे उसका व्यापार चलाने के लिए सोचता हूँ कि एक बार बैलेंसशीट बना कर देख लेना चाहिए। नहीं तो दिवाला पिट जायेगा। उसके लिए कुछ रोज जीने का काम-धाम स्थगित रहे तो हर्ज नहीं है। जीने के साथ की सब स्पृहाओं को छोड़कर सिर्फ रहा भर जाय।'

'सिर्फ रहना चाहते हैं आप, जीने से बचकर रहना !' अपरा हंसी 'मैं आपको वह दे सकती हूं। कारण, एक होल-टाइम सरवैन्ट के बिना यह नहीं हो सकता। धर्मपत्नि सर्वेन्ट होती नहीं, दूसरा कोई हो तो नौकरी के पैसे लेगा। मैं कर सकती हूँ कि खाने-कपड़े के पैसे लूं नहीं, उलटे दूं। इसके आगे मकान किराया-विराया वह भी अरेन्ज कर सकूंगी। बोलिए रहिएगा, या चलिएगा मेरे साथ ? इतना आराम दूंगी कि जिसको खालिस-निखालिस रहना कहते हैं वह आपको मिल जायेगा। देखते ही हैं, मेरे आसपास कोई कर्तव्य नहीं है। इतनी बेकाम कि निष्काम हैं।'

मैंने स्मितपूर्वक अपराजिता को देखा, कहा 'तुम्हारे पास पैसे वगैरा का इन्तजाम मालूम होता है। तब ऐसा कैसे हो सकता है कि इधर-उधर सम्बन्ध और अनुबंध ही न हो और तुम बिल्कुल आजाद हो !—

मैं खुद आजादी पर सोचता रहा हूँ, चाहता रहा हूँ। पर मालूम होता है कि पैसे की आवश्यकता में हो तो फिर आजाद नहीं हो सकते—एक बात बताओ, आने के वक्त ए० सी० के रिजर्वेशन का पैसा कहां से आया था?'

'मुझे नहीं मालूम।···गुरूजी को मालूम होगा।'

'यही सब तो मैं सोचता रहा हूँ। तुमने नहीं, मैंने नहीं, तो आनन्द जी ने दिया। वह फिर हिसाब में चढ़ा होगा। आनन्द जी काम तो करते नहीं कमाई का। सेवा के लिए जरूर फंड उनके पास रहता है। मैं तौल रहा हूँ कि उस पैसे के खर्च से सेवा कितनी हुई है और हमें आराम कितना मिला है। अपरा, तुम ने जाने कैसे यह बात आ गयी। लेकिन मैं इसके सोच-विचार के चक्कर से छूट नहीं पाता—सचमुच इच्छा होती है कि तुम जैसी कोई हो जो पैसे से समर्थ हो—और मैं उनकी सेवा पर होकर सर्वथा अपरिग्रही बन जाऊं!···' और हंसकर बोला, 'लेकिन उतना बड़भागी हूँ कहां?'

'सोच लीजिए, भाग्य मैं बना सकती हूं।'

'तुम्हें, क्यों, गुरु जी के पास नहीं जाना हैं।'

अपरा हंसी, बोली, 'क्या कहते हैं उसे इमैनसिपैठिड, बन्धनमुक्त मैं वही हूँ। कम से कम होना मांगती हूँ।'

'सच बताओ तुम्हारे सगे सम्बन्धी नाते-रिश्ते वाले तो होंगे। वे कहाँ हैं।'

'हैं, वे हैं। बहुतेरे हैं। लेकिन सब मेरे अतीत में हैं। मेरे वर्तमान पर कोई नहीं है। यानि भविष्य मेरा है, मेरे हाथ में है—एक बात कहिए वनानि आपको क्यों चाहती हैं?'

'क्या पूछ रही हो? तुम किसी भ्रम में तो नहीं हो?'

'नहीं, भ्रम मेरे मन में इस बारे में जरा भी नहीं है कि जो नैतिक कर्त्तव्य अपने पास रखता है, वह निस्वार्थ नहीं हो सकता।'

अपरा जो कह गयी, उसने मुझे क्षण के लिए भीतर से पकड़

लिया।

अपरा आगे बोली, 'निस्वार्थ वह और वही हो सकता है जो सोचता नहीं है, अपने को दिये रहता है।—वनानि वह नहीं है। वह एकदम अपने में है। इसलिए आपने गलती की है कि आप यहां ठहरे है।'

मैंने इस अपरा के प्रति कड़ा होना चाहा, कहा, 'गलती है तो इसका तुम अपने लिए इसी क्षण सुधार सकती हो। अभी गुरू जी के पास चली जा सकती हो।' अपरा सुनकर खिलखिला कर हंस आई। बोली—

'आपकी गलती मैं कैसे सुधार सकती हूँ? अपने ढंग से वनानि जी के अभिमान की गलती तो इस रूप में कुछ सुधार भी सकी कि झिझकी नहीं, खुलकर अभिसारिका बन आई। पर—आप बुजुर्ग हैं। छोटी होने की वजह से. आप मानते होंगे कि मुझे समीक्षा का अधिकार नहीं है। वैसे तो निपट परिचारिका बनकर रही हूँ। लेकिन परिचारिका से भी आप बात कर निकलेंगे तो बताइये समीक्षा आलोचना से वह कैसे और कब तक बची रह सकती है—आगे मैं आशा करना चाहती हूँ कि आप कभी यहाँ नहीं ठहरेंगे।'

'वन्या को तुम समझती नहीं हो, अपरा समझना चाहती नहीं हो।'

'अब भी समझने को कुछ बाकी है!'

'अपरा' मानों मैंने ताकीद से उसे देखा फिर गए धीमे होकर कहा जरा हम अपनेपन से सबको नापते हैं। शायद हम विवश हैं। इसलिए क्या हममें से हर एक को नहीं चाहिए कि हम स्वयं को लेकर जो भी चाहे हों, दूसरे का उस जैसा रहने दे। वन्या अपने बारे में नहीं सोचती है, सभ्यता के बारे में, उसका नया सुधार, संस्कार, परिष्कार आदि देने के बारे में सोचती है तो क्यों न सोचे। नहीं उसको रस है, परिवार के और व्यवहार के दूसरे झगड़ो-टंटों में तो एक तरह से क्या यह अच्छा ही नहीं है—नहीं अपरा, वन्या के प्रति अन्याय नहीं हो सकेगा।'

'अच्छा-अच्छा, आप व्यग्र न हों, कह चुकी हूं कि वन्या जी को

खुश करके छोड़ूंगी । पर सच-सच है और आप देखिएगा—गयी कहाँ हैं वह अब ?'

'देखना अपरा, किसी तरह का कुछ अप्रिय यहाँ न घटे ।'

अपरा फिर हंसी और बोली, 'व्यर्थ आप शंका में न पड़ें। उस अपरा का विश्वास रखें जो इस घर में आते ही सेविका बन गई है। वन्या जी के साथ आपकी बातों के बीच क्या वह जरा भी आई है ? क्या अपनी तरफ से आपका पूरा-पूरा यहाँ वन्या का ही नहीं बन जाने दिया है उसने ? फिर आप शंका करेंगे तो मुझे कष्ट होगा—छोड़िए, अब तो निश्शंक होकर आदित्य को और सबको आ जाने दीजिए, और यह भी कहती हूँ कि सबके बीच होकर आप अकेले हो सकेंगे तो वही अकेलापन काम देगा। सिमटकर अलग चले जाने वाले अकेलेपन में आपकी अपनी गांठ गलेगी नहीं, बल्कि कसती ही जायेगी—आप कहीं जाने के लिए तैयार हो रहे हैं ?'

'हां जाना तुमसे जरूरी हो गया है। सबक शायद काफी मिल गया।'

'ओ, यू, आर ए लवेबुल ओल्ड ब्वाय' कहकर अपरा बढ़ी, मेरा हाथ लिया और चूमकर भागती सी वापिस चली गयी ।

अपरा मुझे आश्वस्त कर गयी है। लेकिन उससे अधिक मैं स्वयं विश्वस्त हूँ। निश्चय ही किसी प्रकार का व्यतिरेक नहीं होगा। इसके बाद से वन्या अपने विश्वास में सर्वथा निरापद रह सकेगी। लेकिन जाने क्यों, चित्त मेरा उचटा तो उचटा ही बना रहा। अधिक मन को बहलाने के लिए कहना चाहिए कि मैं छड़ी लेकर पैदल चलता हुआ गुरु आनन्द माधव के यहाँ आ गया। गुरु कर्म-व्यस्त पुरुष हैं। वे अपने को फुरसत नहीं देते। बैठा उन्हें शायद ही देखा जा सके। सदा चलते-फिरते ही दीखते हैं। उनको लेकर मैं बैठा और पूछा, 'वन्या आई थी, क्या गयी ? क्या कहती थी ?'

बोले, 'वही एक धुन है उसको शान्ति-धाम की। दिल्ली के आस पास चाहे तो दो-तीन स्थान में से किसी एक की व्यवस्था उसके लिए हो सकती है, सिर्फ स्थान। मैंने कहा था, और फिर कह दिया, कि बाकी सब उसे करना है। हाथ में एक लाख रुपया वह आवश्यक मानती है। अब तक कोई आधे के वचन उसे मिले हैं। शेष के लिए वह व्यग्र है। लेकिन प्रसाद तुम पर तो वह बहुत भरोसा रखती है।'

'वह तो उसका हक है—गयी कहाँ है ?'

'कुछ बताया तो नहीं उसने।'

'आपको क्या मालूम नहीं, आदित्य आना चाहता है।'

'आदित्य ! कब ?'

'आपके ही के यहाँ से तो होटल का आदमी गया था।'

'हां तुम्हें पूछता हुआ कोई आया था। उसे तुम्हारी जगह बता दी गयी। लेकिन आदित्य कब आ रहा है ?'

'वन्या वहीं गई दीखती है। कमरे देखने-भालने के लिए—तो आपसे कोई जिक्र नहीं आया ?'

'नहीं लेकिन होटल में क्यों ठहरेगा वह ? तुम्हें तार मिला है ? तुमने भेजा है होटल के इन्तजाम के लिए वन्या को ? यह तुम्हें क्या सूझा। होटलों ने सत्यानाश कर दिया है हमारा। पैसे के चौंचले हैं यह सब। दिल की समाई ही खत्म हुई जा रही है। नहीं तो आतिथ्य भारत का स्वभाव था।'

'मैं हंसा, कहा, 'आइये, जरा होटल तक टहल आयें।

'लेकिन क्यों ?'

'आदित्य का वहीं फोन आया है, जगह के रिर्जवेशन के लिए। देख लेंगे, वन्या ने कुछ गड़बड़ न की हो।'

'जो कहना हो यहीं से फोन कर देते हैं। मुझे वहाँ कहाँ ले जाते हो ?'

'आइये, टहलना हो जायेगा।'

वन्या अभी वहीं थी। जितने सम्भव स्थान हो सकते थे सब उसने देखे थे और अन्त में सब से सही जो लगा वहां के लिए कुछ अतिरिक्त हिदायतें दे रही थी। मेरे लिए वन्या का यह स्वरूप नया था। कुछ विशेष समझ में भी नहीं आया। यह उसका दायित्व न था। और चिन्तन की ऊंचाई से उतरकर छोटी-मोटी व्यवस्थाओं के तल पर आते उसे कदाचित ही देखा है। खैर, मैंनेजर से कहकर होटल की कार से उसे वापिस रवाना किया और कह दिया कि कमरे में अभी कोई अतिरिक्त व्यवस्था न की जाये। आने वाले आयेंगे तब देख लेंगे। बम्बई वापिस फोन मिलवाया तो आदित्य वहाँ नटराज में मिल गया। मैंने कहा, 'आदित्य, बम्बई तुम कब पहुँचे ?'

'अभी सवेरे ही आया हूँ। ऐसा ही काम पड़ गया। कहिए आप तो नैनीताल फोन कर दूं, सब लोग सीधे माऊंट पहुँच जायें। मैं अहमदाबाद से डाइरैक्ट सात को आ जाऊंगा। बच्चे आठ नहीं तो नौ को उधर से आ सकते हैं। मुझे वक्त शायद न मिले, लेकिन बाकी सब लोग दो हफ्ते या जितने दिन चाहें माऊंट रह सकते हैं।—आपका स्वास्थ्य कैस है ?'

मैंने कहा, 'आबू तो अभी कुछ गर्म है। नैनीताल का मौसम सुहाना होगा। यहाँ शायद उन्हें उतना अच्छा न लगे।'

'मांजी वहां नैनीताल में हफ्ते से आगे नहीं रहना चाहती। कहती है, उतना ही वादा था। आप अभी दिल्ली न आते हों तो मैंने सोचा, बच्चे भी उनके साथ आबू रह लेंगे। चारू के लिए भी नयी जगह है—रिर्जवेशन हो गया है न ?'

'जरूरी समझो तो किए देते हैं।'

'हां मुझे भी दो-चार दिन आपके साथ का मौका मिल जायेगा। स्वास्थ्य का ध्यान रखियेगा। अपराजिता जी आपके साथ होंगी।—अच्छा सात तारीख को दर्शन करूंगा।' समय हो गया और फोन बंद हो गया। फोन करके मैं फिर लाऊंज में आ बैठा जहाँ आनन्द जी थे

वह चाहते हैं कि मैं उदासीन न रहूं, शान्ति-धाम में वन्या को सहारा दूं। बोले।

'क्यों प्रसाद आदित्य वन्या की कुछ आर्थिक सहायता नहीं कर सकता?'

'मैंने आनन्द जी की ओर देखा। पूछा, 'वन्या यह कह रही थी?'

'हाँ, बातों-बातों में मुझसे पूछ बैठी मैंने कहा मैं प्रसाद से कहूँगा। मैं सोचता हूं उसकी सहायता होनी चाहिए। उसमें लग्न है, योग्यता है।'

'वन्या मुझसे भी कह सकती थी।'

'संकोच रहा होगा—लेकिन तुम ऐसे क्यों हो?'

मैंने कहा, 'आइये, अब चलें।'

'चलो, मैनेजर को कहे देता हूं सवारी के लिए।'

'नहीं-नहीं, आपकी जगह तो दूर है नहीं। मैं आगे भी पैदल जाऊंगा। चहलकदमी ही हो जायेगी।'

परिषद् का अधिवेशन सफल हुआ। प्रस्ताव महत्व के हुए। उसमें मेरा मन व्यस्त तो रहा। पर जाने सबको लेकर कैसा एक दबाव था जिससे मुझे क्षण भर के लिए भी मुक्ति नहीं मिलती थी। रात को नींद जब-तब खुल जाती। अपरा अब कमरे में नही आती थी और अपने से अधिक मैं उसको वन्या की सेवा में देखता था। विवाद वाले दिन जरूर अपरा की खाट मालूम हुआ, मेरी अनुपस्थिति में मेरे कमरे में डाली गई थी, लेकिन अपरा की विनय पर मेरी अनुपस्थिति में ही वहाँ से हटकर फिर पार्वती के पास चली गई थी। सचमुच मैंने देखा कि अपरा ने वन्या की कृपा प्राप्त की है शायद स्नेह भी प्राप्त कर लिया है। जब भी काम से वह मेरे कमरे में आती तो उसके मुख पर एक सन्तोष की झलक दिखाई देती। उसमें कही व्यंग की रेख तक न होती थी। मुझ से बात अब कम ही करती, पर उन थोड़े से वाक्यों में भी मानों श्लेष की ध्वनि रहती।

परिपद् के बाद लोग इधर-उधर हो चले और मिलने-जुलने वालों की विशेष भीड़ न रही। सोचता था, जो निबन्ध हाथ में लिया है आबू में आकर उसे कुछ आगे बढ़ा सकूंगा। लेकिन फुटकर पढ़ने में समय जाता। उसकी पाण्डुलिपि को हाथ में ही न उठा पाता। होते-होते सात तारीख आ गई और आदित्य आ पहुँचा। वह अहमदाबाद से साथ गाड़ी लाया था और मालूम हुआ कि बच्चों के आने के बाद दो-एक दिन से विशेप नहीं ठहर सकेगा। उसके साथ जाने कैसा एक तत्परता का वातावरण चलता है। घर आया तो आनन्द माधव साथ थे। वन्या ने खातिर की और जहां तक हुआ अपने ही हाथ से मेज़ पर सब सामग्री सजाई। सहायता के लिए आई तो पार्वती भले आ गई हो। अपरा को रसोई में तैयारी में लगे रहना पड़ा। चाय के बीच गुरु जी ने कहा, 'आदित्य, तुम्हें मालूम न होगा, वनानि एक संस्था का आरम्भ करना चाह रही है, शान्ति-धाम। देश-विदेश का प्रश्न उसमें न होगा, न किसी खास धर्म या मत का। उनका विचार है कि अपनी-अपनी संस्कृतियों ने भी मनुष्य की परस्परता में बाधा डाली है। मानव संस्कृति एक है और यह संघर्ष जो होते हैं अधिकांश ना-समझी से होते हैं। ना-समझी स्नेह के अभाव से पैदा होती है।—बाकी भाई वनानि ही ज्यादा जानती है। हम तो जानते है कि वह योग्य है और भविष्य तुम लोगों का है। तुम जवान लोग उठोगे और हाथ बंटाओगे, आप पार लगाओगे तो लग सकता है।'

'आदित्य ने कहा, 'जी जरूर।' इतना कहकर आदित्य रुक गया और वन्या की ओर देख कर बोला, 'कहिए मेरे लिए क्या आज्ञा है?'

'मैं क्या कह सकती हूँ। शान्ति-धाम बनेगा तो आप लोगों के विश्वास पर ही बनेगा।'

·· हम चारों के मेज पर बैठने के बाद पार्वती ही सामग्री लाती गयी थी। जब समय हुआ और प्याले प्लेट खाली हुए तो देखा गया कि अपराजिता आयी है और खाली बर्तनों को उठाकर ले जा रही है।

आदित्य बोला, 'ओ हो अपरा जी आप कहाँ थी ? आइये न।' अपराजिता ने उत्तर में देखा भी नहीं, चुपचाप हाथ के जूठे सामान को लेकर चली गई। आदित्य ने हम सब की तरफ देखा और चुप रह गया। शायद उसके ध्यान में यह भी आया कि अपराजिता की यह रहन-सहन कैसी है और उसके चेहरे पर अस्वीकृति थी।

मैंने उस अवसर को निबाहा और आनन्द माधव यथा सामान्य रहे। अपरा सामान उठाने के अलावा अन्त तक बाहर नहीं आई और वन्या ही मुख्यता से शांति-धाम की अपनी योजना को, उसके आदर्शों को स्पष्ट और प्रशस्त करती रही। अन्त में उसने मुझसे कहा, 'कहिए न आप इन्हें कि मेरी सहायता करें।'

मेरे उत्तर देने से पहले आदित्य ही बीच में बोला, 'कह तो चुका हूं कि मैं हाजिर हूं—चलिए बाबू जी, आप हमारे साथ चल सकेंगे ?' कहकर उसने किसी के लिए अवकाश न छोड़ा और मुझको हाथ से साथ ले कर बढ़ गया। गुरु जी को उनके स्थान पर कार से उतार कर मुझे फिर माऊंट आबू की सड़कों पर कहां-कहां घुमाता हुआ अन्त में अपने होटल ले आया। वह यहां के हाल-चाल से प्रसन्न नहीं मालूम होता था। यद्यपि इधर-उधर की बातचीत से उसने यह प्रकट नहीं होने दिया। उसने न वन्या के बारे में बात की, न अपरा के। मानो बताना चाहता हो कि जो उसका नहीं है वह काम उसका नहीं है। उसके मन में था कि चारू के साथ बच्चे, अगर उनका मन लगे तो जितने दिन चाहे यहां रह सकते हैं। उसे नया प्रोजेक्ट खड़ा करना है, उसमें उसे परिवार के लिए शायद ही समय मिल सके। माता-पिता के साथ रहकर दिल्ली के मुकाबले बच्चे यहाँ अधिक मगन रह सकेंगे···इत्यादि।

अगले रोज आदित्य मुझको आबू रोड स्टेशन के लिए लेने आया। मैं तैयार हुआ तो अकेले में मुझसे कहा, 'क्या अपरा जी आपके साथ नहीं चलेंगी ?'

'उसे चलना है ?'

'नहीं तो हरदम जूठे बरतन उठाने में ही रहना है !'

'मैं चौंका। अपरा को बुलाया 'तैयार होकर आओ अपरा, स्टेशन चलना है, बच्चे आ रहे हैं।'

अपरा मुस्काई, चली गई और जरा देर में अपनी यही प्रभावशाली मुद्रा धारण कर चली आई।

हम रवाना हुए तो नीचे तक वन्या छोड़ने आयी थी और मानो स्तब्ध रह गई थी। गाड़ी लेट थी और मैं वेटिंग रूम में आराम कुर्सी पर अखबार मंगा कर पढ़ता रहा। वे दोनों प्लेटफार्म पर घूमते रहे या रिफ्रेशमेंट रूम में चले गए होंगे। ट्रेन आने को हुई तभी दोनों आये और बाबा-रे-बाबा, कितना सामान उनके कम्पार्टमेंट से उतरा। साथ एक आया थी, एक नौकर। अपरा ने बढ़कर उन सब का चार्ज स्वयं लेकर रामेश्वरी और चारू को मुक्त कर दिया।

'हैलो चारू—माता जी प्रणाम।' इतने अभिवादन के बाद फिर अपरा अंत तक न दीखी।

'हैलो अपरा।' चारू ने कहा, मेरे पाँव छुए और बोली, 'आप तो वैसे के वैसे ही हैं बाबू जी। नैनीताल रहते तो सुर्ख हो जाते। और नहीं तो खुबानी, आलूबुखारा तो वहाँ अभी खूब आने लगा है। और चैरी। यहाँ तो सुनते है आपके माऊंट में कुछ भी नहीं होता।'

'और तू बड़ी फूली हुई है न—और कहिए जी आपका गिनना-गिनाना पूरा हुआ ? सब अदद है ठीक-ठाक ?'

'ठहरो जी, मुझे भुला दिया, एफ-दो—वह चार। अरे बासकिट कहा है, यह नही, वह वड़ी वाली।' और सामान से हटकर रामेश्वरी जी ने मुझे देखने की फुरसत पाई। बोली, 'अपरा तो थी, फिर यह कैसे हो रहे हो !'

'सुर्ख नहीं हो रहा हूं, यही तो। अब हो जाऊंगा। तुम आ गयी हो।'

बच्चों को साथ लिये हम तीनों आगे चले और अपरा की सहायता के लिए आदित्य भी समान की संभाल में पीछे रह गया।'

पांच

सबेरे नौ बजे आदित्य को होटल से आना और मुझे नाश्ते के लिए ले जाना था। आग्रह अपरा के लिए भी था। लेकिन रात ही अपरा ने मुझे कह दिया था कि वह न जा सकेगी। कारण, निमन्त्रण वनानि के लिए जो नहीं हैं।

वन्या काफी सबेरे उठ जाती और तैयार होकर नित्य एक घण्टा ध्यान में लगाती है। मालूम हुआ जैसे ध्यान से उठकर ही वह आई हो। मुद्रा सर्वदा शांत थी और समाहित। पूछा, 'क्या आप वहीं होटल में रहने जा रहे हैं।'

'आदित्य शायद मानेगा नहीं बिना ले जाये।'

'मैं सोचती थी अपरा की जगह रामेश्वरी जी यहाँ रह सकेंगी। मैं चलूं कहने के लिए?'

'अभी आदित्य आता होगा, बात कर लेना उससे।'

'और—शांति-धाम के बारे में आपने कोई उत्साह नहीं प्रकट किया। सहमति तक नहीं जतलाई। फिर भी मैं नाहक कह बैठी कि आप आदित्य से कहें। अब उसकी जरूरत नहीं है। उनसे किसी तरह का जिक्र आप न कीजिएगा।'

सच ही है कि संगठित संस्थाओं से मेरा विश्वास उठता सा रहा है । संघटना वहां प्रधान हो जाती है, व्यक्ति गौण हो जाता है । अन्तश्चैतन्य पर नियम सवार होने लगता है । व्यक्ति ही संस्था बन उठे, तब तो दूसरी बात है । वहां चित्-सृष्टि पर जड़ नियम नहीं चढ़ पाता ।

लेकिन मैंने कहा, 'नहीं वन्या, अपने लिए मैं संस्था और सदस्यता की संगति नहीं देख पाता हूं तो मतलब यह नहीं कि तुमको अपने संकल्प में ढीला होना चाहिए, या मैं सहायता न कर सकूँगा । तुम कहो तो मैं आदित्य को कहूँ ।'

वन्या बोली, 'आपको अपने जीवन की पारिवारिक परिधि पर सन्तोष है, मैं पूछती हूँ ? वहां मेरे-तेरे के चक्र से आपको छुटकारा है ? उससे समाज में क्या फिर गांठें नहीं बनती । वही स्वत्व स्वार्थ । आप ही ने कहा था कि जो लिखते रहे हैं, जीने के आधार में भी उन्हीं विश्वासों को न ला सकेंगे तो आपको चैन न होगा । संस्था और क्या—यह तो न कि वहां अपने-पराये का चक्कर नहीं रहता है, सब समान बनकर रहते हैं । साम्य का ऐसा प्रयोग न होगा तो फिर वादगत सरकारी साम्य ही रह जायगा भाग्य में ।

'यह आपकी ही बात है और अब आप ही उसके लिए अनुद्यत दीखते हैं !'

बात वन्या की सही थी । लेकिन परिवार का ही विकसित रूप संस्था कब हो पाती है कि जहाँ सिर्फ अपना-पराया समाप्त हो' किन्तु आत्मीयता व्याप्त रहे । संस्था को विधान से क़ानूनी रूप देना होता है, आपसी सम्बन्ध वहां हार्दिक की जगह वैधानिक होने लगते हैं । क्या परिवार स्वयं वैसा विकास नहीं पासकता कि नाते-रिश्ते रक्त और स्वार्थ के न रहें, बल्कि साधना संकल्प के हेतु से निर्माण पाएं । सोचता तो हूँ, पर अनुभव करता हूँ कि ऐसा होता नहीं । इसलिए वनाग्नि जैसों के प्रयत्न से मैं बहुत सहमत न होते हुए भी सहज उनका प्रशंसक

मैं हंसा और अपरा आई तो उसे रोककर कहा, 'अपरा, यह वनानि तुमसे कुछ कहना चाहती हैं।'

अपरा सामने आकर मानो आदेश की प्रतीक्षा में खड़ी हो गयी।

वन्या ने कहा, 'आप ही कहिए न।'

'लो मैं ही कहता हूँ।—अपरा, वनानि शांति-धाम की बात सोच रही है। नये प्रकार का उसे आश्रय ही कहो। उसका रूप राष्ट्रीय न होगा, न रूढ़ अर्थ में वह भारतीय ही होगा—खड़ी क्यों हो, बैठ जाओ।···ओ काम है—अच्छा-अच्छा। हां तो वनानि को आशा है कि देश-विदेश के लोग धीरे-धीरे वहां आने लगेंगे और वह एक बड़ा साँस्कृतिक केन्द्र हो जायेगा। किन्तु आरम्भ संक्षिप्त हो सकता है—क्या बात, तुम्हें जल्दी हैं ?'

इसी बीच हार्न की आवाज आई और थोड़ी देर में बेधड़क जूतों की आहट करता हुआ आदित्य आ गया। अपरा खड़ी थी, हम दोनों बैठे थे, कि वन्या भी खड़ी हो आई, कुर्सी आदित्य के लिए रख कर कहा, 'आइये।'

'जी बैठिए-बैठिए आप।' कहते-कहते आदित्य ने अपरा की ओर देखा, कहा, 'और आप कब से खड़ी हैं।—यह क्या है ? नौ बजता है, क्या ऐसे ही चलिएगा ?'

अप्ररा ने कुछ उत्तर नहीं दिया, मुंह नीचे किए वह चली गई।

'क्या बात है, बाबूजी। चलना है न ?—वन्या जी, मैं बहुत आभारी हूँ, कि बाबूजी को आपने, इतने दिन इतनी सम्भाल के साथ, अपने यहाँ रखा है। अब शाम बाद फिर आपको कष्ट न होगा। बच्चे अभी रहना चाहते हैं। मुझे तो तीसरे ही दिन शायद जाना पड़ जाये। माँ जी आना चाहती थीं, आपको धन्यवाद देने के लिए आयेगी।—बाबूजी उठिए, और अपरा क्या तैयार होने गयी हैं ?'

'नहीं, वह नहीं आ रही हैं।'

'वह नहीं आ रही हैं। क्या मतलब इसका, नहीं आ रही हैं ?'

'छोड़ो, उसे यहां कुछ काम-धाम होगा। खड़े क्यों हो बैठो।'

'पर चलना जो है।'

'हां चलना तो है।'

'जरूरी हो, तो फिर आ जायेंगे, बाबूजी यहाँ। अपरा कहां है?' और उसने पुकारा 'अपरा!'

मैंने ठंडे लहजे में कहा, 'कहा तो तुमसे कि वह नहीं आ रही है साथ। और तुम—बैठो। क्या परसों तुम्हें जाना है?'

'हो सकता हैं। एक फोन का इन्तजार है। इट डिपेन्डस।'

'इसलिए तुम्हें बिठा रहा हूँ कि जाने से पहले तुम्हें वनानि के शाँति-धाम के लिए कुछ करना है।'

'जो आप आज्ञा करें।'

'नहीं मेरे खातिर नहीं, मेरे कहने से नहीं। बात समझ लो और तुम्हें फर्ज मालूम हो तो देख लो। क्या कर सकते हो।'

'देखिए, बाबू जी, ये धाम-वाम मैं नहीं समझता। जिसमें रहता हूं, वह समझता हूं। रूपया समझता हूं। यह भी समझता हूं कि सब मुझे उसी के लिए समझते हैं। मुझे और कुछ से मतलब नहीं। आप कहिए तो—जैसा कहेंगे वैसा हो जायेगा।—लेकिन आप चुप है, वन्या जी—क्या यह मुनासिब है आपके लिए कि आप बाबूजी से मुझे कहलाएं। इज इट नॉट एक्सप्लायटिंग ए सैन्टीमैंट! माफ कीजिएगा मेरी आश्रम-वाश्रम में श्रद्धा नहीं है।'

इसी बीच अपरा आई थी, उसी वेष में, और आदित्य की जोर की बात पर वही ठिठकी खड़ी रह गयी थी। आदित्य ने उसको अपनी ओर देखते देखा और कहा, 'लेकिन वन्या जी, आप विश्वास रखिए, कि अच्छा काम खुद अपने लिए राह बना लेता—और सहयोग पा लेता है। मुझे अलग न समझिये। और बाबू जी जो भी कहेंगे—तो अपरा तुम नहीं चल रही हो? समझता था, तुम तैयार होने गयी होगी। लेकिन वैसी की वैसी, वही—काम-धाम में दिखती हो! क्या बात है?'

'जी, मैं नहीं जा सकूंगी।'

'क्यों ?'

'मेरी जरूरत नहीं है। माँ जी वहां हैं।'

'क्या वाहियात बात है—अच्छा वन्या जी, मुझे बाहर न समझें। चलिए बाबू जी, आइये चलिए।'

मैं उठा, वन्या भी अपनी जगह से उठी। मैंने कहा, 'आदित्य तुम चलो, मैं आ रहा हूं।' आदित्य के जाने पर मैंने वन्या को कन्धे से थपथपाया। वह चुप थी और फीकी हो आई थी। उसको देखकर मुझे एकाएक लगा कि पैसे में यदि गर्व होता है तो हमारी अपेक्षा के कारण ही हो पाता है। वन्या का सम्भ्रम यदि कुछ ज्ञात हुआ दीखा तो कारण यही कि उसमें संस्था के निमित्त से पैसे की माँग हो आई थी। हम चाहते हैं, और चाह हमें नीचे लाती है। उस चाह से पैसा गर्विष्ठ हो आता है। फिर भी मैंने देखा कि, कि वन्या सम्भली है, टूटने को तैयार नहीं है। वह मानो अपने को समझाना चाह रही है कि समर्पित व्यक्ति के लिए अपना मानापमान कुछ नहीं होता है।

होटल में मुझे अतिरिक्त कमरा दिखाया गया जो उसी सवेरे आदित्य ने मेरे लिए खुलवाया था। बताया कि यह डबल-बैड रूम स्वतन्त्र है, और बच्चे दो हफ्ते बाद आना भी चाहें तो आ सकते हैं, और जैसा आपका विचार था आप महीने-डेढ़-महीने जितना चाहे यहाँ रहे जा सकते हैं। आप यह भी कहते थे कि कश्मीर से प्रकाश और रंजना लौटे तो दिल्ली के बजाय यहीं आपके पास कुछ दिन रह लेंगे। उस हालत में यह जगह उनके लिए रख लीजिएगा। आदि-आदि बताकर ब्रेकफास्ट के बाद आदित्य गाड़ी लेकर चला गया और मैंने देखा कि मैं अपने डबल बैड रूम के काउंच में अकेला बैठा हूँ। उठा, बड़ी खिड़की खोली और बाहर देखने लगा। निक्की झील दीखी जो नीची बिछी थी और पार पहाड़ियां खड़ी थी। कुछ देर उस अपार शून्य में मैं देखता रह गया। सब बड़ा बेकार और बेअर्थ मालूम होता था। इधर आकर

खाम न हो तो जाके अभी भेज देना।'

'अभी रहने दो—और पहले आदित्य से बात करो तो कैसा। मुझे लगता है उसी तरफ का कोई सदमा है।'

'हो सकता है। आदित्य है तेज। सीधा चोटी की तरफ दौड़ा जा रहा है। इससे आसपास के कर्तव्य उसे अगर उतने ध्यान में न रहे, तो चारु को यह समझना चाहिए। उसे अपने बूते रहना सीखना है। जितना वह आदित्य को अपनी तरफ से आजाद रख सकेगी, उतनी ही सुख में रहेगी। देखती हो, पैसा वह किस तरह बहाता है। चारु उतने में अपने को इस तरह समर्थ और उपयोगी बना सकती है—नहीं, चारु से ही बात करनी है। जाकर भेजना तो उसे।'

चारु आई तो मैंने पूछा, 'क्या बात है, बेटा।'

'कुछ नहीं बाबूजी।'

'अच्छा-अच्छा आओ, इधर, आओ। तुम्हारी मां कह रही थी, तुम रो रहीं थीं—तुमसे एक बात कहता हूँ। रोने से मन हलका होता है। पर मन को हलका करने का तरीका अपने को किसी ठोस काम में लगाना भी है। सही तरीका वही है। आँसू से तनाव कुछ देर को कटता है, पर दूसरे से मन की माँगें हमारी बाकी रह जाती हैं। सच यह कि वसी मांग रखने से ही दुःख होता है—अं:अं, आदित्य की ही बात है न, सच कहना।'

सुनकर चारु चुप रह गई और धीरे-धीरे उसकी आंखें डबडबा आईं।

'छिः पगली, यह क्या? बता-बता, क्या बात है।'

सुनकर वह आवाज देकर रो उठी और मेरी गोद में गिर आई। मैं भी कुछ नहीं बोला और उसके बालों में हाथ फेरता रह-रहकर कनपटी पर उसे थपथपाता रहा। कुछ देर में उसकी हुड़की और हिचकी बन्द हुई। मैंने उसकी आंखें पोंछी, और उसे सीधा बिठाया। कहा, 'आदित्य का तुमसे मन नहीं भरता है। तुमको ऐसा लगता है, यही

न ? बोलो—'

'हाँ ।'

'देखो बेटी मन ऐसी-वैसी चीज नहीं है । इसलिए जिसको भरना कहते हैं, तो वह कभी नहीं भरता—इतना ही कर सकते हैं हम कि एक दूसरे की आवश्यकता में काम आएं । एक दूसरे पर हक माने और अड़ने लग जाए तो इससे क्लेश पैदा होता है । तुम तो समझदार हो और उस तरह अपने को आदित्य पर डाले रखोगी तो खुद दुःख पाओगी और वह भी बन्धन मानेगा । तुम अपेक्षाएं रखना छोड़ दो, बस मन में प्यार रखो । वह काफी है—ये क्या इधर-उधर उसकी निगाह जाती है ?'

'हां ।'

'—और तुम इस पर कुछ कह सुन भी लेती हो, क्यों ? तुम हां कहती होगी, वह ना कहता होगा । ऐसे बीच में से सच्चाई गायब हो जाती है; तुम जानती हो । और झूठ पर तो गिरिस्ती चल नहीं सकती—अच्छा है, तुम उसे कायल करना ही छोड़ दो । शिकायत तक छोड़ दो । जीने का बड़ा भाग सच कहता हूं सहना होता है । हर दूसरा स्वयं है । विवाह से यह तो नहीं कि वह मुट्ठी में बंध जाता है । अधिकार को अगर हम निफर भी कर दें, सिर्फ कर्तव्य रहने दें तो हाथ से हमारे कुछ जाता नहीं है । बल्कि अधिकार बिन बनाये खुद बनता चला जाता है—समझती हो न ?—तुम कहीं यह तो नहीं चाहती कि मैं आदित्य से बात करूं ?'

'नहीं, उनसे कुछ न कहिएगा ।'

'ठीक है, यही ठीक है । मुझे उससे कुछ नहीं कहना चाहिए । बल्कि मुझसे पूछो तो शिकायत के तौर पर तुम्हें भी कुछ नहीं कहना चाहिए ।'

सहसा चारू बोली, 'आपको अपनी अपरा जी पर पूरा विश्वास है ?'

'मेरी अपरा !—क्यों, क्या हुआ ?'

'अभी की बात है। खिड़की खुली थी और मैं झील की तरफ देख रही थी। दूरबीन पास थी। देखती हूं कि कहीं यह टहलते हुए वही तो नहीं है। पक्का नहीं कह सकती। उनके साथ जो थी, अपरा थी यह भी नहीं कह सकती। पर ऐसा कुछ लगा। इसी से पूछा था।'

'—और इसी पर आँसू गिराने लगी थी, क्यों ? पगली हो जो न हो। आदित्य वह नहीं था, क्योंकि अपरा नहीं थी। तुमसे कहता हूं, अपरा से तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता—और एक सलाह मानोगी ? अपने लिए कुछ काम ढूंढ़ लो। पैसे के खर्च से जो समय को भरा जाता है, वह उसे और खाली बना जाता है। कुछ लोक-सेवा का काम ले सकती हो, या कुछ हौबी ही बना डालो। तब इन चीजों के लिए मन खाली न रहेगा—बोलो, कहती हो कि अब मन भारी न करोगी ? और कुछ देखोगी भी तो शिकायत मन में न लाओगी ? बोलो, बोलो।'

'जी।'

'कैसी बहादुर और समझदार हो और मुन्ना-मुन्नी हैं तुम्हारे पास वे तुम्हारी जिम्मेदारी हैं। इतना क्या काफी नहीं है तुम्हारे मन भरने को। अच्छा-अच्छा—देखो जाती हो तो हंस के जाओ।'

चारू गई तो हठात् हंस के। पर मैं मन में गहरे विषाद से भर गया। कारण, प्रेम सदा परीक्षा होता है। वह पुरुषार्थ है, वह तपश्चर्य है। उसमें अन्त तक देना और सहना होता है। जीवन तक देना। बिना प्रतिदान देना ही देना।

कोई साढ़े बारह बजे आदित्य वापिस आया होगा। तब उसने कहा कि लंच के लिए अभी मुझे यहीं रुकना है। पर वन्या को तो सूचना न थी। आदित्य इस पर तैयार हुआ कि अभी कार से बैरे को भेज कर वहाँ कहलाए देता है। लेकिन यह उचित न था और मेरे आग्रह पर आदित्य मुझे वन्या के यहाँ छोड़ गया। कह गया कि शाम को आयेगा।

अपरा को रास्ते में गुरु आनन्द माधव के यहाँ पहुँचाता हुआ मुझे होटल ले जायेगा। मैंने यद्यपि अपनी ओर से हाँ नहीं कहा तो भी जानता था कि शायद यही होनहार है। रामेश्वरी यहां आयेगी नहीं और अपरा के साथ मेरा वहाँ रहते चले जाना वन्या के मन पर बोझ डालना होगा।

मालूम हुआ कि अपरा कपड़े धो रही है। यह समय तो कपड़ों का नहीं है। बुलाकर पूछा 'यह क्या, अभी कपड़ा धोना-पछाड़ना ही चल रहा है!'

बोली, 'आदित्य ने इतना सारा वक्त खराब कर दिया।'

'क्या तुम आदित्य के साथ थीं? वह आया था?'

'हाँ आये थे। ऊपर नही आये, नीचे से ही हार्न देते चले गये। आदमी के हाथ मुझे बुलाया तो मैंने कहा, कहिए? बोले साथ चलना है। मैंने कहा, कहां? बोले, यूँ ही जरा झील तक। मैंने कहा, किसलिए बोले तैयार होकर आओ—। बट दैट वाज इम्परटीनेंस—मैं ऊपर आई और दीदी से कहा, मैं जरा बाहर जा सकती हूं? उन्होंने पूछा, मुझसे क्यों पूछती हो? मैंने कह दिया कि आप नहीं है, इसलिए पूछती हूँ। बोली किसलिए जाना हैं। मैंने कह दिया कि आदित्य कह रहे है उनके लिए। बोलीं, आदित्य? मैंने कहा हां हो आऊं? उन्होंने मना नहीं किया और मैं—मुझे हिमाकत का जवाब देना था। कपड़े बदले और चली गई—इसी से अब आपके सब कपड़े लेकर मुझे बैठना पड़ा है।

मैं नाराज हुआ, पूछा, 'आदित्य को क्या काम था तुम से?'

'कुछ भी काम नहीं था। कहने लगे, मेरे आग्रह पर आप आयी है लेकिन देखता हूं आपको यहाँ नौकरानी बना कर रखा जा रहा है। दोष मेरा है इसलिए मुझे माफ कर देना। मैंने कह दिया किसने मुझे नौकरानी बना कर रखा है? आप बताइए कि क्या चाहते हैं?' बोले, 'आज ही बाबूजी यहां से चले जायेंगे। उनके साथ क्या आप भी होटल चलने को राजी होगी। मालूम होता है, आपसे उनको खूब आराम

मिला है। मैंने कह दिया, नहीं। वह तर्क करने लगे। मैंने एक ही बात रखी, नहीं। फिर वनानी जी के बारे में पूछने लगे। मैंने कह दिया कि आपके लिए पैसा सव कुछ होगा, पर वन्या जी के लिए सब कुछ विचार है। वताने लगे कि उनसे पैसे की माँग की गई है। मैंने कहा कि आपके पास और है क्या, जिसकी माँग हो सकती है। हंसकर बोले, यही मैंने भी कहा था, लेकिन अब देखता हूँ कि पैसे का होना छोठी चीज नहीं है। तुम, यानि कि मैं, क्या उसे छोटी चीज समझती हूँ। मैंने कहा कि आप उसे बड़ी चीज समझते हैं तो समझते रहिए। आपकी समझ आपको मुवारक, लेकिन मुझे चलने दीजिए। काम वहां अधूरा छोड़ आई हूं। बोले, वनानि शांति-धाम बनाना चाहती हैं। रुपया उसके लिए उन्हें चाहिए ! तुम कहो तो दे सकता हूं। जितना कहो उतना दे सकता हूं। मैंने कहा, शटअप। सुनकर वह—वह—सूने से रह गए। मैं फिर हंस आई खूब हंसी। बोली, डर गये ? लो, कहती हूं, सब दे डालो। वह मेरी तरफ देखने लगे। मैंने कहा, आइए चलिए, वापिस चलें। उन्होंने कुछ नहीं कहा, और वापिस साथ-साथ चल दिये।—मैं पूछती हूँ, यही न कहा था क्राइस्ट ने उस धनिक कुमार को कि पहले सब दे आओ, तव आकर पूछना—दीदी यह क्या कर बैठी कि जो धन पर गर्व मानता है उसके सामने अपनी अपेक्षा खोल बैठी—और आप—आप इतना उन्हें नहीं समझा सके ?' मैंने हठात हंस कर कहा, 'तो इसलिए अब कपड़े धुल रहे हैं।—आदित्य ने ठीक पूछा, था अब मैं पूछता हूं कि क्या तुम होटल में मेरे साथ नहीं रह सकती। आराम के मैं खिलाफ था। इन दिनों में तुमने उस आराम का मुझे आदी बना डाला है।'

'हां, एक बात कहना भूल गई। आते वक्त हमारे ए० सी० रिर्जवेशन का पैसा आदित्य ने दिया था।'

'आदित्य ने ? और तुमने यह सुन लिया, कुछ कहा नहीं ?'

'कहा,' पर आदित्य की बात सच्ची थी। कहने लगे, गुरु खुद तीसरे दर्जे में चलते है, बहुत हिम्मत की तो आपको फर्स्ट क्लास में

ले जाते। पर राजस्थान की धूल और धूप—बोले मैं सुख से डरता नही हूं, न सुख देने से। जो पैसे के लिए दुःख उठाते है वे और होंगे। मैं पैसे से सुख उठाता और लुटाता हूं। कैसे बर्दाश्त कर सकता था कि गुरु के हाथों सौंप कर मैं बाबू जी को तपती लू और धूल के लिए छोड़ दूं।—आई मस्ट से, ही इज ए कैपिटल शाई योर ब्वाय, एण्ड क्लेवर टू।'

'अच्छा-अच्छा—तुम गुरु के यहां जाओगी, मैं होटल। तो यही रहा?'

'आप जैसा कहें।'

'वन्या ने तुम्हारा जाने का कुछ बुरा तो नहीं माना था?'

'माना होगा तो मालूम होने नहीं दिया।'

'ठीक, तो देखो अपने कपड़े।'

वह चली गई और शाम को हम लोगों ने वनानि का स्थान छोड़ दिया। वह गुरु के यहां पहुँची, मैं अपने नये कमरे में।

लेकिन प्रशंसा करनी होगी वन्या की। मन में उठे विचार और वने संकल्प से सहसा उसे डिगाना आसान नहीं हुआ। गुरु आनन्द-माधव सच्चे जी से शांति धाम के उसके प्रयत्न सफल हुआ देखना चाहते थे। गुरु की यही विशेषता है। सवको उत्साह और सहारा देते हैं। किसी को भी निराश करते उन्हें नहीं देखा। विरोधी, यहां तक कि शत्रु भी पास पहुँचे तो उसका भी कुछ भला करने से वह नहीं चूकते। स्वयं नीरीह रहते हैं, लेकिन जिस-तिस को जिस-तिस भी सूत्र से सहायता पहुँचा कर ही दम लेते हैं। मैं होटल से अक्सर टहलता हुआ गुरु जी के स्थान पर पहुँच जाया करता। एक सबेरे देखा कि गुरु के पास वन्या उपस्थित है और योजना बन रही है। आस-पास जाती-आती अपरा भी दीख जाती है। निश्चय हुआ है कि वन्या दिल्ली जाकर उन दोनों-तीनों स्थानों को देख लेगी जो उपलब्ध हो सकते हैं। किसी पर निर्भर होकर बैठे रहना ठीक नहीं है। विचार उठा है तो बस

चल ही पड़ना चाहिए। स्रोत ने चलने के लिए क्या नदी सोचने बैठती है कि तट पहले तैयार हुआ है कि नहीं। बहने के साथ तट आप बनता जाता है। यह गुरु आनन्द माधव की ओर की प्रेरणा है, और मालूम हुआ कि इसमें गुरु के परोक्ष में अपराजिता भी है।

गुरु ने कहा, 'समझी न बनानि ? तुम विचार में रहती हो, विचार ऊंचे, बहुत ऊंचे पहुंचते हैं। आसमान को छू लेते हैं। पर विचार तो मन की डोर से बंधे होते है ना। बढ़ाओ उतने बढ़ाते चले जाओ। पर अंत में समेटकर अपने में ही आ जाना पड़ता है। यानि कि पाते हैं तिल भर भी बढ़ा नहीं गया है, और आदमी वहीं का वहीं है। मैंने भी दर्शन-ग्रन्थों की एक उमर में बहुत खाक छानी थी। अब सबको किनारे कर दिया है। अब मालूम होता है कि परमेश्वर के बाद कोई या कुछ सच है तो आदमी है। बाकी सब वाद और ज्ञान मीमांसा फालतू है—तो आओ, जगह देखो और बस जम जाओ।—अपरा से मैंने जिक्र किया था। वह तुम्हारे साथ तो नहीं होगी। लेकिन दूर से ही तुम्हारी काफी चिन्ता दूर कर सकेगी।'

इतने में आस-पास उसे देखकर गुरू ने मानो पुकार कर कहा,

'—अपरा !'

'जी।'

'तुमने आदित्य को फोन किया था ?'

'जी', कहकर घड़ी देखी, 'वह आते ही होगे।'

मैंने कहा, 'अरे भाई, मैं यह तुम्हारी किस अभि-सन्धि के बीच आ पड़ा हूँ। बिघ्न तो नहीं हूं न ?'

'यह तो अच्छा है, प्रसाद, कि अनायास ही तुम आ गए हो।'

कुछ देर में आदित्य आ पहुंचा, बोला—'आप बाबूजी यहां ?—कहिए गुरूजी, अपरा जी का फोन था कि आपने मुझे याद किया है।'

'हां, भाई—वह तुमसे शांति-धाम की बात आई थी ना, क्या सोचते हो ?'

'अभी तो कुछ निश्चय नहीं बना है। बाकी आप जैसा कहें।'

'हमने तो कह दिया है', गुरूजी बोले, 'आरम्भ छोटा अच्छा होता है। एक लाख उसके लिए वनानि पर्याप्त मानती है। आधा तो हो गया समझो। बाकी आधे का आश्वासन हो जाए, तो बस फिर क्या है। तुम उनका जो हिस्सा कहो ले सकते हो। दूसरा, तीसरा चौथा। चौथा भी हो गया तो समझेंगे गाड़ी चल पड़ी है, काम सध जायेगा। क्यों प्रमाद, क्या सोचते हो?'

'पैसा तो ठीक है, मैंने कहा, आगे पीछे हो ही जायेगा। लेकिन उसमें समर्पण का भाव हो तभी है। सोचना चाहता है अभी आदित्य तो सोचने दीजिए। ठीक है न आदित्य?'

'जी हां, और आजकल इन्डस्ट्री की हालत ·।'

बीच में ही अपरा बोल पड़ी, 'व्हेयर डिड यू लर्न टु बी स्टिंजी आदित्य? आई थौट यू वर दी वन हू कुड प्ले विद मनी। व्हाट'ज हैपेंड टू यू?'

आदित्य ने विना अपरा की ओर देखे गुरू को कहा, 'मुझे सोचने दीजिए अभी तो—'

छः

कहानी के बीच क्या एक मिनट में अस्तित्व के प्रश्न को दे सकता हूं। अस्तित्व स्वयं में प्रश्न नहीं होना चाहिए। प्रश्न होता है जब

अस्तित्व से अलग होते हैं, और हम सब अलग ही हैं। अस्तित्व जगह हम अस्मित्व हैं। इस अस्मि के भाव में अस्मि ने अपना अन्तर डाल लेते है। इस व्यवधान में से ही समय की संभावना और गति की आवश्यकता स्पष्ट होती है। उन्नति अवनति उत्कर्ष-अपकर्ष सब इसी में से हैं। अस्मि और अस्ति के इस खिचाव के बीच यह हमारी सब संभवता है। उसी में से आता है पुरुष का पुरुषार्थ। या तो अस्मि अस्ति में डूब जाए या अस्ति अस्मि में भरपूर हो आये। तब तो है। अन्यथा प्रश्न ही प्रश्न है। आदमी ने परमेश्वर को माना कि अपने को मानने से छुट जायेगा। पर परमेश्वर आदमी की इसी अपनी-अपनी मान्यता में पड़कर खंड-खंड हो गया। और उन खण्डों को लेकर आदमियों में अस्मिता की बदाबदी मचने लगी। धर्म जिसे गला देता, मत उसी को फुलाने लगा। अर्थात् अहंता को। जगत के तमाशे का यही रहस्य है। "एकं सत् और विप्रा: बहुधा वदंति"। एक अनेक। वह और मैं। हूँ और है।

आदित्य ने देखा तक नहीं अपरा की ओर। उसने अपना उत्तर गुरु आनन्द माधव को दिया। इसलिए अपरा ने, मानों दोनों को बीच से अलग कर, वन्या से कहा, 'सोचने दीजिए आदित्य को। चौथा हिस्सा साढ़े बारह हजार हुआ। उसका मैं वचन देती हूं। उतना आदित्य देंगे। नहीं देंगे तो मैं जिम्मा लेती हूँ।—गुरुजी आप सोच में न पड़े, सोचने का काम आदित्य महाशय अपनी तरफ लेते हैं, तो इन पर छोड़िए—लीजिए अब हुआ। वनानि देवी, चलिए दिल्ली और काम अपना आरम्भ कीजिए। सिर्फ एक सप्ताह मुझे देना होगा।

आदित्य ने कहा, 'क्या अब मैं जा सकता हूँ, गुरुजी।'

'जी नहीं, अभी नहीं जा सकते।' अपरा ने कहा, 'यह देखकर जाइये कि आपके सोचते रहने से कोई काम रुकने वाला नहीं है!

'हू आर यू ?'

'मैं!—जी मैं इन्डस्ट्रियलिस्त नही, इन्सान हूँ। और अंग्रेज भी नहीं हूँ!'

अब मैंने कहा, 'अपरा, तुम चुप रह सकती हो। मार्क्स अपने ज़माने में होकर गये और अपनी व्याख्या के लिए वे तुम पर भार नहीं डाल गये है। इन्सान तुम में खत्म नहीं हो जाता, इन्डस्ट्रियलिस्ट में भी रह सकता है। तुम आसानी से साढ़े बारह हजार देना बोल गई, यानि तुम में भी उस गर्व की गुञ्जाइश है...।'

गुरुजी बोले, 'छोड़ो प्रसाद—अपरा, यह क्या चक्कर तुमने रच डाला है। आदित्य तुम जाने दो। पैसे की ऐसी कोई बात नहीं, वह तो आता जाता रहता है।'

आदित्य हठपूर्वक हंसा, हंसी वह कड़वी थी। बोला, 'अब तो अपराजिता भी हैं—मैं चलता हूँ।'

अपरा ने कहा, 'ठहरिए। साढ़े बारह मैंने कहा है—लीजिए, पच्चीस कहती हूँ। पच्चीस हजार।—वनानि जी, इन्डस्ट्रियलिस्ट को इंडस्ट्री के लिए छोड़िए। कह चुके है वे कि और वह नहीं जानते। मत जानने दीजिए उनको, और पैसे के लिए काफी दुनियां पड़ी है।'

गुरु आनन्द माधव ने कहा, 'अपरा, वह जमा रूपया अब तुम्हारा नहीं है. तुम कह चुकी हो कि मेरा है—प्रसाद, चार हजार और कुछ पाऊंड है इसका विलायत में।—अपरा, उसमें से अब तुम नहीं दे सकती। अगर वही सोचती थी तो अब भी अपना वचन खींच सकती हो—अरे, जाते कहां हो, आदित्य ? मैं तुम्हें कह रहा था कि इसका गर्व झूठा है। सोचो, दिया रूपया इसका फिर कैसे हो सकता है ? बैठो-बैठो, इनकी सब ठींग की बातें हैं। शायद तुम्हें चिढ़ाना चाहती है। छोड़ो-छोडो, ख्याल न करना—अपरा बस अब चुप।'

अपरा चुप नहीं हुई बोली, 'वनानि जी, आप पक्का मानिए। पच्चीस हजार मेरे जिम्मे। विलायत के वे स्टर्लिंग गुरु जी के हो गये तो भी—बात पक्की। क्यों आदित्य, कह दूं पक्की ?'

आदित्य जोर से बोला, 'नो-ो-ो!' अपरा इस जोर की आवाज पर एकाएक सहमी दीखी, फिर हंसी आई, बोली, 'वनानि देवी, बात

आप मेरी ओर से पक्की ही मानिए—और कह दीजिए कि अब जा तो सकते हैं, अगर जाना ही चाहें आदित्य।'

आदित्य ने धीमे से कहा, 'इस स्थान की अपराजिता जी मालिक नहीं हैं, मैं समझता हूँ।'

अपरा हंसी, बोली 'नहीं, मैं नहीं हूँ।' और आदित्य की दिशा में जाने कैसा एक कटाक्ष फेंकते हुए वह कमरे से चली गयी।

'व्हाट डज शी मीन ?' आदित्य ने कहा, 'हू इज शी टू इन्सल्ट मी !'

गुरु जी ने कहा, 'छोड़ो-छोड़ो, वह हमारे संस्कारों की नहीं है, उसे ध्यान में न लो—।'

'आपने उसे बहुत चढ़ा रखा है, गुरूजी। आप भी बाबूजी—'

वनानि बोली, 'क्या मैं समझू कि पच्चीस हजार हो गया है ? आप कहिए प्रसाद जी ?'

मैंने कहा, 'क्यों गुरू आनन्द, यह वनानि क्या पूछ रही है ?'

'हां वनानि', गुरूजी ने कहा, 'अपरा है तो पच्चीस हजार बड़ी चीज नहीं है। लेकिन तुम तो देख ही रही थी। इन बातों को सीरियसली न लेना—आदित्य, यह सच है कि अपरा तुम्हारे बारे में ऊंची भावनाएं रखती है और इस समय उसे कष्ट हुआ है।'

'अपनी जिम्मेदार वे हैं। मैं क्या कर सकता हूँ ? मेरा काम उनकी भावनाओं की रक्षा करना नहीं है।—सुनिए, मैं एक पैसा नहीं दे सकता—माफ कीजिएगा, बाबू जी, मैं कुछ नहीं दे सकता।'

मैंने कहा, 'आदित्य, माफी की बात क्या है। तुम्हें सचमुच कुछ नहीं करना चाहिए, जब तक भीतर प्रेरणा न हो—वनानि, तुमको भी चाहिए कि पैसे को आए तो आने दो, उसे खींचने की चेष्टा न करो।'

वनानि बोली, मैंने तो कुछ नहीं कहा। लेकिन हां, अपरा जी की तरह धनाढ्य इन्डस्ट्रीयलिस्ट, का उसी कारण अनादर मुझसे नहीं हो

से ज्यादे यह हफ्ता और, बल्कि जल्दी भी चलना हो सकता है। तो चलो साथ दिल्ली और अपना केन्द्र शुरू कर दो। लेकिन एक बात है। साहित्यिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक चिन्तन जो भी करो, शारीरिक, साथ में कुछ जरुर रखना। मेहनत दूसरों पर छोड़कर विचार-व्यवस्था बस हम लोग किये जाएं तो ऐसे राजा-प्रजा का भेद मिटेगा नहीं। बल्कि सेवा और रचना के नाम पर वह फर्क बढ़ना ही चला जायेगा। इतना हो जायेगा कि अहिंसा के बूते उसे पाटना सम्भव न होगा, उसे मिटाने के लिए फिर बीच में हिंसा को आना होगा—अच्छा तो नहीं लगता यह, मनन और चिन्तन के बीच चक्की-चरखे की बात लाना। पर भाई क्या किया जाये, वह काम भी किसी न किसी को आखिर करना ही है। मशीन पर टालने से भी तो पूरी तरह टल नहीं पाता। मशीन को फिर मजूर चाहिए। और लीजिए मजूर महाजन का श्रेणी भेद आ गया। विलायत के समाज हितैषी ने कहा, "इस भेद को गिरा देना होगा। श्रम पर पूंजी सवार है। पूंजीवाद को तोड़ डालना होगा।" तो भाई उसे तोड़ डाला गया है। चलिए महाजन टूट गया। सोचते थे कि श्रेणी के रूप में फिर मजूर नहीं रह जायेगा। पर कैसे न रहना मजूर ? सब स्वेच्छा से मजूर बन जाते तो शायद वह अलग से नहीं भी रहता। पर वह तो हुआ नहीं। सोचा कि मशीन से मजूर को हटा देंगे। वह भला कैसे हो सकता था ? और जो हुआ वह यह कि मजूर रहा, और महाजन हटा, तो उसकी जगह हजूर आकर विराजमान हो गये। अब सोचो कि मजूर-महाजन की सभ्यता से मजूर-हजूर की सभ्यता कैसे बढ़-चढ़कर हो जायेगी ?—ठीक है, कुछ लोग चिन्तक होंगे, मनीषी होंगे। बड़ी खुशी से हों। पर काया रखेंगे तो बिना काम और मशक्कत के उस काया में जंग नहीं लग जायेगा ? काया को इसलिए काम में लगाने के बजाय व्यायाम में लगाते है। यह कौन सी अक्लमन्दी हुई ? क्या यह अच्छा न हो कि काम का काम हो और व्यायाम का व्यायाम हो—यह लो मैं तो लेक्चर ही झाड़ गया। आओ

जगह चुन लो, धाम चलाओ, और शरीर श्रम उसमें जरूरी —और अपरा को तुम जानती नहीं। मैं तो हंसी करता था कि ...यत का जमा रुपया अब उसका नहीं है। उसी का है और उसमें से पच्चीस हजार दे डालने में उसे जरा जोर न पड़ेगा। और एक बार उठ पड़े वह तो आगे भी बहुत कुछ कर दिखायेगी।

'आपको बहुत भरोसा है उनका। बड़े प्रशंसक मालूम होते हैं!—अभी आपने देखा, लगता है आपको कि उनमें यथावश्यक संयम है?'

'यथावश्यक संयम' गुरुजी बोले, 'मुझ में ही तुमको दीखता है? मुझे स्वयं तो मालूम नहीं है। इसलिए कहता हूँ कि धाम में वह तुम्हारे साथ नहीं होगी—पर पैसा जहां से आयेगा वहां क्या सचमुच संयम की तोल-परख करने बैठोगी? छोड़ो-छोड़ो, हम लोगों का यह अभिमान हो सकता है—आदित्य से पैसा लेने से पहले उनसे संयम का प्रमाण-पत्र तुमने माँगा है? धाम में रख लेना अपने व्रत और नियम, बाहर तो लोगों को रहने दो।' मुझे भी वह सब अच्छा नहीं लगा था। अब तो इच्छा होती है कि सब होता है वैसे हो। जिसको करना-धरना कहते हैं वह होने का ही सहज रूप हो। चेष्टा-पुरुषार्थ बाहर और अन्य के प्रति न हो, बस यह अपने ही प्रति हो। बाहर के लिए केवल समझ और सहानुभूति ही रह जाये।

थोड़ी देर में आदित्य को लेकर अपरा लौट आई। खिली दिखाई देती थी। उसने बताया कि अलग-अलग दोनों विभागों के काम के लिए आदित्य जी ने हजार-हजार रुपया दिया है।

गुरु आनन्द माधव ने कहा, 'यह क्या, आदित्य? अपरा ने तुमसे देने को कहा था?'

सकता हूँ ?'

अपरा बोली, 'और यह कहते हैं कि मैं अपनी बात वापि
शांति-धाम की सहायता के बारे में वह सोच सकते हैं : सुन
जी ? लेकिन मैं क्यों वापिस लूं ?—आपके लिए पच्चीस से [illegible], अगर
हो जाये तो क्या हर्ज है !'

मैंने हंसकर कहा, 'अरे आदित्य, यह क्या ? मेरे नाति-नातिन का
जरा तो ख्याल रखा होता !'

आदित्य भी हंसा और बोला, मैं आसानी से, बाबूजी, हाथ से
रुपया निकालने वाला थोड़ा ही हूं । गुरुजी ने चौथाई कहा था । बिना
किये-धरे लीजिए यहाँ तो आधा पूरा हो गया ? फिर अब वनानि जी को
प्रयत्न करना चाहिए । जरा जाएं, डोलें, भुगते । मैं समझता हूँ इस
आसानी से आधा हो जाना भी उनके हक में ठीक नहीं है । वह कहीं
इसमें अपने अध्यात्म की महिमा न समझ बैठें—माफ कीजिएगा, वन्या
जी, मैं जरा—संसारी आदमी हूँ । आइये, चलें बाबूजी ।'

'तुम यह न मानना, अपरा कि तुम्हारे विलायत के एकाऊंट का
रुपया इसमें तुम्हें मिलने वाला है—फिर सात रोज लेकर कहां-कहाँ से
ये पच्चीस हजार तुम्हारा बटोरने का विचार है, कहने को तो कह
गई ।'

'मैं गई कहीं,' अपरा ने कहा, 'इससे पहले इन्हीं आदित्य से पूछूंगी
कि बताएं, क्या करूं ?'

'मैं कुछ नहीं जानता ।'

'जानोगे कैसे नहीं ? आखिर एक औरत को जिद्द में चढ़ा कर आप
खुद निकल जाएंगे !'

'मैं तो अब भी कहता हूँ,' कि अपनी कही बात वापिस लो तो मैं
सोच सकता हूँ । नहीं तो अपनी शेखी भुगतो । क्यों, ठीक है न वन्या
जी ? आइये, चलिए ।'

'शेखी कहाँ, आदित्य । लेकिन तुम हट सकते हो, मुझसी औरत, अपनी

बात से पीछे नहीं हटेगी ।'

'कौन कहता है, हटो···। आइये, चलिए ।' और आदित्य मुझको लेकर वापिस होटल के लिए चला । होटल दूर नहीं था, फिर भी आशा थी वह कुछ तो बोलेगा । लेकिन वह गुम रहा और होटल में आने पर भी अपने कमरे के दरवाजे पर मुझे छोड़ बिना कुछ कहे वह अपने एपार्टमेंट में बढ़ गया ।

रामेश्वरी कमरे में लेटी पढ़ रही थी, पूछा, 'क्यों आदित्य साथ आया है ?'

'हाँ, हम लोग गुरू के यहां थे, साथ ही आ रहे हैं ।'

'मैंने पता लगाया है,' रामेश्वरी बोली, 'चारू ने जिसको देखा वह आदित्य और अपरा ही थे—यह तो ठीक नहीं है !'

'होगा—छोड़ो ।'

'फिर भी कहते हो, छोड़ो ? आदित्य तो मर्द है, उस अपरा भली-मानस को कुछ कहना सुनना चाहिए न । या वह ऐसे ही छुटी डोलती फिरेगी !'

मैंने कहा, 'सुनो रामेश्वरी, आदित्य तुम्हारा जमाई है। उसको चाहो तो कह सुन भी सकती हो। पर अपरा पर हमारा-तुम्हारा हक नहीं है । और अपने बारे में वह अपनी मर्जी क्यों नहीं रखेगी ।'

'रखेगी बड़ी अपनी मर्जी—खबरदार जो हमारे घर आई तो—'

'—पर तुमने ही मुझे उसके साथ भेजा था !'

'भेजा था—तुमको तो देख लिया है मैंने। कभी तुम बाज आये हो—इसलिए मैं तो रोने-धोने से बाहर आ गयी । पर बेचारी चारू···'

'तुमने तो मुझे देखा है—सोचो क्या फायदा हुआ है—आखिर सहना ही तो पड़ा है । यही चारू को सीखने दो। ज्यादा उसको सुरक्षा देने की कोशिश से कुछ नहीं होगा। और मैं तो—खैर था,—पर आदित्य बढ़कर है ।'

'तो चारू के लिए तुम कुछ नहीं कर सकते ।'

'उसे मजबूत बनने को कह तो दिया है—बस वही रास्ता है—हम तुमने उसे प्यार में रखा है, अच्छी-अच्छी शिक्षाएं दी है। पर जिन्दगी अच्छी-अच्छी चीज नहीं है। बड़ी सख्त चीज है. तुम जानती हो—यह कहां, आदित्य क्या जल्दी जा रहा है?'

'वह तो परसों ही जाते दीखते हैं।'

'ठीक है—और देखो. अपरा ने पीछे मुझे बड़ी सार-सम्भाल से रखा था : तुम उस बेचारी के खिलाफ नहीं हो सकती।'

'आई बेचारी!—आदित्य का सत्यानाश करके छोड़ेगी।'

'तुम तो उससे खुश थी।'

'पर यह उस पर डोरे क्यों डालने लग गयी है!—क्या कहूँ, आदित्य को मैं कह नहीं सकती। और तुम—'

आशय, चारु को लेकर रामेश्वरी में व्यथा घनी हो आई थी। उस नाते सारा उसका रोष अपरा पर ढल गया था। मैंने देख लिया कि वहां से मैं उसे किसी तरह हटा नहीं सकता। स्वयं मैं अपरा को गलत नहीं मानता। क्या होता है किसी को गलत मानने लगने से? और अपरा से अब तक जितना आया मैंने देखा है, वह नितान्त आल्लाद कारक है। वह नियमों में नहीं है। लेकिन जिस चीज को लेकर अनियमित है. वह वस्तु अनिष्ट नहीं अभीष्ट ही प्रतीत होती है।

किन्तु यह क्या? मालूम हुआ कि गुरू आनन्द माधव और अपरा आदित्य के साथ कार से अहमदाबाद जाने वाले हैं। वहां एक दिन ठहरकर प्लेन से सीधे दिल्ली पहुंचेंगे। वनानि तीन दिन बाद यहां से सीधे दिल्ली जायेगी। इस खबर पर घर में बेचैनी हुई। चारू के मन में गहरी शंका पैठ कर गयी और रामेश्वरी और उद्विग्न हो आई।

पर दोनों में किसी ने आदित्य से कुछ नहीं कहा। मैंने ही पूछा, 'क्यों भाई, सब लोगों का यह साथ जाने का कार्यक्रम कैसे बन गया।'

आदित्य बोला, 'मेरा तो तय था ही। गुरू को साबरमती से इस बीच तार आया दीखता है। और गुरू के चलने की बात हुई तो मैंने

कहा, एक दिन अहमदाबाद मुझे भी रुकना है तुम अपरा, वनानि के लिए कुछ करना चाहती हो तो अहमदाबाद में बहुत सेठ हैं। दो-एक को मैं भी जानता हूँ। अपरा ने कहा, मेरा काम समझकर आप ही कुछ कर-करा दीजिएगा। न बाबा. मैंने कहा, मैं मांगने का काम नहीं करता। पर गुरू ने कहा. क्या करोगी तुम यहां. चलो. साथ चलो। ऐसे एकाएक तय हो गया।'

'और वनानि ?'

'वनानि। उनका क्या ? उनके बारे में मुझको नहीं मालूम।'

'वह साथ नहीं जा रही है।'

'नहीं. बिल्कुल नहीं।'

'लेकिन दिल्ली तो जा रही है न, कुछ बाद सही।'

'होगा, मुझे मालूम नहीं।'

और—ये दो दिन आदित्य के बहुत व्यस्त दिखाई दिये। व्यस्तता किस चीज को लेकर थी, मैं समझ नहीं सका। होगी कोई बिजनेस की ही बात। तीसरे दिन वे लोग चले गये। गुरू के स्थान से चले तो ड्राइवर को उसने पीछे बैठने को कहा, व्हील खुद लिया और अपरा और आनन्द जी को अपने साथ आगे की सीट पर बिठाया। उस समय का तत्पर और उद्यत आदित्य मुझे बड़ा मनोहारी प्रतीत हुआ।

अब मुझे शांति थी। मैं पुस्तक को हाथ में ले सकता था। चारू को आज्ञापूर्वक मैंने कह दिया कि घर में कम से कम रहे। खूब घूमे और बच्चों को खूब घुमाए। चारू के मन में गृहलक्ष्मी का आदर्श था। आदित्य का मन खुला था और गृहलक्ष्मी के अतिरिक्त भी उसको संगानिन-साथिन की आवश्यकता थी। मैं इसका अनुमान कर सकता था। मेरे अपने जीवन का विधान भिन्न रहा है। उसमें उसकी कम लगभग शून्य मात्रा रही है जिसको आऊटडोर लाइफ कहते हैं। चारू के संस्कार उसी परम्परा के अनुकूल रहे होंगे। वह यों ऊंची पढ़ी-लिखी है। पर उतने से तो आज-कल का काम नहीं चलता। अतिरिक्त भी

कुछ चाहिए ।

मैंने कहा, 'चारु, तुम्हारे पास जीन्स हैं ? ऐसे कैसे घोड़े पर बैठोगी ।'

'मुझे अच्छा नहीं लगता है, वह पहनना ।'

'पर साड़ी से तो घोड़े की सवारी मुश्किल होगी ।'

'हाँ । यह भी कहते थे । कहते थे डांस भी सीख लो । यह सब मैं कैसे कर सकती हूँ ? बड़ा वैसा लगता है ।'

'नहीं, वह कुछ नहीं । चलो अभी तुम्हें दिला देते हैं ।'

'यह क्या ढंग सिखा रहे हो तुम बेटी को ?' रामेश्वरी जी ने कहा, 'ऐसे कहीं घर-गिरिस्ती बनती है ।'

'आओ, चलो' मैंने कहा, 'तुम्हारी चारु को, देखती हो, चौका-बासन नहीं करना है । वह सब तो नौकर लोग करेंगे । तुमने बिना नौकर अकेली गिरिस्ती सम्भाली है, इसी से चिन्ता करती हो । छोड़ो—आओ चारु चलो ।'

'कहो, मम्मी, जाऊं ?'

'और क्या होगा भई—जाओ ।'

इस तरह चारु को आऊट-डोर लाइफ के अभ्यास के लिए कहा, जिससे वह आदित्य के साथ कुछ तो कदम-बकदम चल सके । और मैंने उस प्रश्न की ओर ध्यान दिया जो सनातन है : स्त्री और पुरुष । मैं मानता हूँ कि दार्शनिक अपने दर्शन में निर्वैयक्तिक हो गये हैं । इसलिए अपनी खोज में वे व्यक्ति से इतर और अपर तत्त्वों पर जा टिके हैं । इस प्रकार विज्ञान की तो शक्ति बढ़ती गयी है, क्योंकि वह व्यक्त तथ्य से हटा नहीं है । दर्शन अक्षम रह गया है, क्योंकि यथार्थ से वह हठात् ऊंचे उठकर अधर में रह गया है । मानव-सत्य निर्वैयक्तिक होते ही अतथ्य हो जायेगा । और व्यक्ति की कल्पना, अर्ध-नारीश्वर के रूप में चाहे तो कर भी लें, नर-नारी के पार नहीं हो सकती । प्रतीत होता है नर-नारी का द्वंद्व-द्वैत आदिम है, मौलिक है । इसी कुंजी से मानव

[illegible]

[illegible]

'इन्हें हुई बच्चों की परवाह! आएंगे तो बड़े लाड लड़ाएंगे। ओझल हुए तो बस कौन चाचा कौन और कोई। छोड़िये उन्हें रहने दीजिए—[illegible] ने कुछ लिखा? वह वहीं है दिल्ली?'

'छोड़ उस सती को, होगी कहीं।' रामेश्वरी ने कहा।

'न हो लक्ष्मी, बाबूजी उसकी तारीफ करते हैं।'

'तो होगी इनकी लाड़ली—क्यों जी, उसने कुछ लिखा है तुम्हें—कुछ आदित्य के बारे में ही लिखा हो।'

'नहीं, मेरे पास किसी की कोई खबर नहीं है—तुम प्रकाश के बारे में बताओ क्या कहती हो। ठीक है, वह यहां नहीं आयेगा। लेकिन उसका मन काम में नहीं है, किसी भी काम में नहीं है—तुम अखबार तो पढ़ती हो। आजकल लड़के विश्वविद्यालयों में बड़े बेचैन हो रहे हैं। पढ़ना-लिखना बेकार उन्हें लगता है और काम-धाम जिसे कहते हैं, वह भी बेकार। कहते हैं, जो ऊपर लोग बैठे हैं वे क्यों ऊपर हैं? और नीचे हैं, वे क्यों नीचे हैं? यह जो मूल्य हैं न—मूल्य, यानि हमारे रहने का रंग-ढंग, यह सब गलत है। धर्म के शास्त्र-पुरान, राज के आइन-कानून, समाज की रीति-नीति सब उन्हें गड़बड़ मालूम होती है। अपना प्रकाश भी कुछ उस रंग में दीखता है। अब उसकी शादी हो गयी है।' अकेला तो रहा नहीं, कुछ काम-धाम जरूरी है। बताओ क्या सोचती हो?'

'कर तो रहा है वह काम।'

'कर रहा है, पर मन न हो तो काम भला क्या देगा, वह तो घाटा देने लगेगा। और दे भी रहा है। यह नहीं कि पैसा उसे अच्छा नहीं लगता, पर एकदम बहुत सारा उसे चाहिये। मैं कहता हूँ, आदित्य के साथ हो जाओ, वह मुंह बिचका देता है—कश्मीर तो खत्म हुआ, अब आगे सोचना होगा—'

चारु ने कहा, 'भैया को हम पर छोड़ दीजिए। उनके तो मन में

है कि प्रकाश को…'

'वह तो है, पर प्रकाश माने तब न।'

'वह मैं सम्भाल लूँगी। बिनती मेरी यह है, बाबूजी, कि अपरा को दिल्ली से किसी तरह हटा दीजिए।'

'फिर वही कमजोरी की बात।' मैंने कहा. 'एक अपरा हटी तो क्या दिल्ली में सौ अपराएं और नहीं है। यह क्या मन हारने की बात करती हो!'

'ठीक तो कहती है बिल्कुल बिचारी। उस अपरा का वहाँ मायका है? ससुराल है? नौकरी है? क्या है उसका यहाँ? तुम्हारी बात मानती है तो कहीं उसे दूर भेज दो न।'

'नहीं रामेश्वरी, चारू के डर को बढ़ाओ नहीं। उसे निडर बनने दो—मेरी मानों चारू तुम, तो अपरा को अपने घर बुलाया करो, उसे आदर सत्कार दो। उसे जता दो कि तुम एकदम निडर हो और आदित्य पर कोई बन्धन नहीं है। समझी?'

'तुम्हें हो क्या गया है कि आफत को न्यौतने की सलाह देते हो!'

'क्यों चारु, सुनती हो न अपनी माँ को? लेकिन मैं यही चाहता हूँ कि हंसकर आफत को तुम न्यौता दो। बोलो, कर सकोगी?'

'चलो बेटी, इनकी तो मत उलटी है। इनसे कहना बेकार है। मैं देख लूँगी उसे, चिन्ता न कर।'

और सचमुच मुझे बीच में ही काट कर माँ-बेटी कमरे में मुझे अकेला छोड़ गयीं।

सात

एक होता है ज्ञान, दूसरा विज्ञान। मद धरते-धरते जिसने अणु तक भेद डाला, यह विज्ञान। अभेद का अभ्यास करके अखिल हो जाओ, यह ज्ञान। दोनों ही एक मात्र सत्य को पाने के प्रयास हैं। कारण, अणु में है वह अखिल में है। अणु अखिल है। पिण्ड सो ब्रह्माण्ड। दोनों अभिन्न हैं। और मानव चित्त में सतत यह द्विविध प्रक्रिया रही है। बुद्धि तोड़ कर लेती और सार्थक होती है, श्रद्धा युक्त होकर मुक्त होती है। दोनों परस्पर पूरक है। इसी से दोनों के बीच तान है।

निश्चय हो गया है कि सबको साथ वापिस दिल्ली लौटना होगा। आदित्य जब तक का होटल का पैसा भर गया है उससे आगे एक दिन नहीं ठहरा जायेगा। ठीक है, और सात दिन के लिए मैं निश्चिन्त हूँ। पर अपने में विस्मित भी हूँ। सोचता हूँ कि व्यवहार में मैं क्यों इतना अनाड़ी हूँ। परिपाटी है कि बेटी के यहां पानी भी नहीं पीते। लोग तो उस गांव तक को बचाते हैं। मेरे आने और होटल में रहने का सारा इन्तजाम जमाता महोदय का है। फिर भी मेरे मन पर जो रेख नहीं है, तो इससे बड़ा अव्यवहार और क्या होगा। मानता हूँ मानापमान दुनियां में बड़ी चीज है। जो जितना ऊंचा है वह उतना ही इन चीजों के बारे में सावधान है। जड़ है जो इन मूल्यों को नहीं समझता। आखिर दुनियाँ में इज्ज़त के सिवा और है क्या? और समाज में इज्ज़त के इन स्तरों को टिकाने का साधन है पैसा। समाज इसीलिए समाज है, भीड़ या

जंगल नहीं, कि वहां मर्यादा है—लेकिन पैसे के आवागमन के नियमों पर सोचता हूँ तो बड़ी अश्रद्धा भी होनी है। समझ सकता हूँ कि जिन्होंने सत्य को साक्षात पाया, क्यों उन्हें धनादि की ओर से विमुख और अकिंचन होना पड़ा। पदार्थ को पास लेकर उनसे हम अनायास बढ़-चढ़ जाते हैं कि जिनके पास वह कम है, या नहीं है। यह भाव सुख देता है। धन दूसरा इसलिए चाहता है कि पहला चाहता है। होते-होते हर किसी को उसे चाहना ही होता है। समाज उस चाह में समान और एकत्र बनता है। उसी चाह के कारण उस समाज के व्यक्तियों में धनात्मक या ऋणात्मक, परस्परता की सृष्टि होती है। यही होने या जीने का स्वाद है।

मैं यह देखता हूँ और होने देता हूँ जो होता है। यानि कोई मुझसे अपना हिसाब मांगे तो मैं दे नहीं सकता। इतना जानता हूँ कि जीता चला गया हूँ और ध्यान यह रखा है कि पैसा किसी के भी पास रहे, मुझ पर न रहे। अर्थात मैं कृपा पर जिया हूँ और सच पूछिए तो इसमें आराम भी देखता हूँ। पत्नि और बेटे की कृपा के बाद अब अगर बेटी की कृपा मुझ पर आती है तो मुझे विपत्ति अनुभव नहीं होती। लोग हैं जो अपने प्रति पुत्र को, पत्नि और सबको प्रार्थी बना देखना चाहते हैं। बेटी को तो अवश्य ही। मेरे यह वश का नहीं हो सका। मेरे नाम या काम पर जो पैसा आया वह मैंने 'कमा' कैसे लिया, कैसे वह 'मेरा' हो गया, इसका भेद मैं पूरा समझ नहीं पाया हूँ। बस मान लेने की एक प्रथा ही कहिए, और क्या। इसलिए अगर सदा के लिए मैं पैसे को अपना या किसी का मानने से बचा रहूँ तो इसमें ऐसा अयुक्त भी क्या है ?

पैसा समाज के शरीर का प्रवाही रक्त है। वह है, क्योंकि उस पर सरकारी मुहर है। मोहर की वजह से कोरा कागज भी कितनी कीमत का हो जाता है। और सरकार वह जो प्रशासन के बल पर समाज को अनुशासन में रखती है। शासन की इस संस्था से समाज की स्थिति बनती है। मुझे लगता है कि उस सुविधा के लिए शासन का होना और

सुनो। अपरा थी न, दिल्ली गयी क्या वह ? या वहां हो तो ...ेना।'

...ा ?—मैं तो आफिस से बोल रहा हूँ।'

और फोन बन्द हो गया। कुछ देर रामेश्वरी चोंगे में ही 'हैलो-हैलो, आदित्य पुकारती रही, तब कहीं फोन कटने का पता चला। फोन उसने पटका और उसके माथे पर बल पड़ आये। पर बोली नहीं, चुप रह गयी।

चारू ने पूछा, क्या बता रहे थे ?'

रामेश्वरी ने धीमे से कहा, 'अपरा दिल्ली गयी मालूम होती है।'

'कह रहे थे वे ?'

रामेश्वरी नाराज होकर बोली, 'कहने को क्या था—क्यों जी तुमने पूछा था, तो क्या बताया उसने ?'

'तुमको जाने क्या हो जाता है। अरे भई, यह इन्ड्रस्टी का काम ऐसे ही होता है। हम तुम क्या जाने ? छोड़ो—'

और कहकर मैं सीधा अपने कमरे में आ गया, पर साफ था कि कुछ मैं उस सम्बन्ध में सोचना नहीं चाहता था। अपरा स्वतन्त्र है, स्वतन्त्रता झेल सकती है। लेकिन आदित्य के इस टालने के नीचे कहीं अस्वच्छता की गंध मिली। उस पर मैंने भीतर कष्ट अनुभव किया।

युवा मैं रहा हूँ। हर प्रौढ़ उस वय में से गुजरा है। परमेश्वर की कृपा कि तरुणाई में परस्पर का एक अमोघ आकर्षण होता है। दमनीय माना जाता है, इसलिए वह दुर्दमनीय हो जाता है। वह सब समझ में आता है। पर उस पर मिथ्या-मृषा की ओट क्यों ? इसी पर मुझे गहरा कष्ट हो रहा था। आकर मैं अपने कागजों पर बैठा, पर लिखा नहीं गया। उन्हें मैंने बन्द किया, और उठकर कमरे में टहलने लगा—हम व्यवहार के कुछ नियम और मान स्थिर कर लेते हैं। उनके निर्वाह को ही फिर आत्यंतिक मानकर झूठा आचरण करने लगते हैं। यह झूठ तो प्रकृति में से नहीं आता। निसर्ग तो विना कुंठा के स्वीकार

कर ले तो सारा अनिष्ट बच जाता है। लेकिन नीतिनियम इसमें बड़े हो जाते हैं, सच छोटा ही रहता है। और जो अन्यथा सार्थक होना है वही ऐसे अनर्थकारी हो जाता है।

'सुनो !'

मैंने मुड़कर देखा, रामेश्वरी थी। बोली 'दिल्ली का गुरुजी के आनन्दकुंज का नम्बर बताना तो।'

'क्या हुआ ?'

'चारू फोन करेगी वहां।'

'नहीं, कोई जरूरत नहीं है।'

'तुम नम्बर तो बताओ—'

'मुझे मालूम नहीं है—'

'क्या हुआ है तुम्हें ? वह हैरान है बिचारी, और तुम नम्बर तक नहीं बता सकते।'

'मुझे मालूम नहीं है—दिल्ली एक्सचेंज को नाम बता देना, वह मिला देंगे।'

'सच कहना, नम्बर तुम्हें मालूम नहीं है ?'

इस पर मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, और अनमना अपने कमरे में टहलने लगा। बेहद-बेहद बुरा मालूम हुआ। जरूर गहरी त्रुटि होनी चाहिए कि इतने वर्ष साथ बिताने पर भी पत्नि में भरोसा नहीं हो पाया है। मालूम होता है कि पति-पत्नि सम्बन्ध इतने अधिक निकट का हो जाता है। कि परस्पर के लिए सम्भ्रम तक नहीं बचता। बीच में कुछ अवकाश तो रहना ही चाहिए कि—। और मैं कमरे में काफी देर तक टहलता ही रहा। फिर आकर पलंग पर लेटा और ऊपर छत पर निगाह टकी रह गई। छत कोरी थी और वहाँ कुछ लिखा न था। ऐसे शनैः-शनैः शायद मुझे ऊंघ आ गयी।

'सो गये ?—सो क्यों गये ?'

दप्रट की यह आवाज सुनकर मैं जगा। देखा, रामेश्वरी कह रही

है, 'देख न लिया जी अब तुमने । तुम्हारी अपरा जी दिल्ली में नहीं है । सुना ? देखे यह लच्छन ?'

मैं उठकर बैठा, और पत्नि को देखता रह गया ।

'मुझे क्या देखते हो ?—वह नहीं है दिल्ली । और गुरुजी से पूछा, कहां है ? तो उन्होंने बताया, चले तब तो अहमदाबाद थी । आगे उन्हें नहीं पता ।...जी नहीं पता, मुझे पता है । मैं कहती हूँ, वह बम्बई है, आदित्य के साथ । सुनते हो, आदित्य के साथ !'

मैं अब भी कुछ नहीं बोला । रामेश्वरी ने कहा, 'अब फौरन दिल्ली चलना होगा और कुछ इन्तजाम करना होगा—बैठे-बैठे क्या देख रहे हो !'

मैं जितना चुप था, उतना ही रामेश्वरी में आवेश चढ़ता जाता था । और जितना आवेश चढ़ता, उतना ही मेरा बोलना अनावश्यक होता जाता था ।

वह बोली, 'फौरन चलना है । सुना कुछ तुमने ?'

मैं पलंग पर बैठा का बैठा उफनती हुई अपनी पत्नि को देखता रहा । मन मेरा सख्त होता जा रहा था, और ऐसा मालूम होता था कि उस जितने कड़े शब्द मेरे पास जुट नहीं पायेंगे । धीरे-धीरे अब वह संयम नहीं था जिसमें मैं चुप था । रोष था जो मुझे चुप और निष्क्रय बना देता था । भीतर ही भीतर वह भभक रहा था ।

'अजी मौन क्यों साधे बैठे हो ? सुने न अपनी अपराजिता जी के करतब ? अब बोल क्यों नहीं फूटता कुछ !'

मैं उठा और पत्नि की ओर से मुंह फेर कर कमरे में ही तेज चाल से टहलने लगा ।

कुछ देर रामेश्वरी चुप रही । उसके इस चुप सन्नाटे के बारे में मैं भूल नहीं कर सकता था । जानता था कि उसमें तैश चढ़ रहा है । लेकिन मेरे चलने में बाधा नहीं हुई और मैं चुप बना रहा । मन के भीतर का रोष मानो जमकर उपेक्षा और घृणा में परिवर्तित होता जा रहा था ।

जैसे जो स्त्री खड़ी है, वह जाने कौन है। मैं मुंह नीचे डाले कमरे में उस दीवार से इस दीवार तक, और इससे उस तक, घूमता रहा और वह खड़ी देखती रही। एक मिनट, दो मिनट। तीसरा मिनट पूरा नहीं हुआ होगा कि वह बढ़ती आई, कन्धों से पकड़कर मुझे झिंझोड़ा और कहा, 'मैं बक रही हूँ, सुना नहीं ?'

मैंने रुककर उसकी ओर देखा। जैसे पहचान नहीं पा रहा हूँ। एक गहरा अजनबीपन बीच में हो और जाने कहां का यह हमला मुझ पर आ गया हो। क्षण के एक भाग तक उसे देखा, फिर अपने कन्धे पर आई उसकी दोनों बाहों को जोर से नोंच कर उस समूची को एक तरफ फेंक दिया। ऐसे फिंक कर वह गिरते-गिरते बची और हाँफती हुई वहीं गड़ी सी खड़ी रह गई।

मैं ज्यों का त्यों चुपचाप फिर घूमने लगा।

ऐसे एक पल दो पल हुए। वे खिंचते चले गये। मैं जान सका था, खड़ी-खड़ी वह फुंक रही और कांप रही है। लेकिन जैसे वह सब मुझको छुआ तक नहीं। बिना उसकी ओर देखे फर्श पर नीची निगाह किये मैं इधर से उधर, उधर से इधर चलता ही जा रहा था।

'तो अच्छी बात है—याद रखना !'

फुंफकार कर कहा और रामेश्वरी झपटकर कमरे से बाहर निकल गयी।

तब बड़ा असार मालूम हुआ संसार। जहाँ रहने में नहीं, मरने में ही सुख है। आदि-आदि सोचता हुआ मैं टहलता ही रहा। नहीं कह सकता इसमें कितना समय बीता। चेत हुआ जब चारु आयी, बोली, 'बाबूजी हम लोग कल दिल्ली जा रहे हैं।'

'कल ? दिल्ली ! क्यों ?'

'मेरा जी घबरा आया है। अब यहां रहा नहीं जायेगा।'

'वहां दिल्ली में ही क्या करोगी ?' और बढ़कर उसे कन्धे से साथ लिया और पलंग पर बराबर बिठाया। 'कहा तो था मैंने तुम्हें बेटी कि

घबराने से नहीं चलेगा।'

मुझे आशा थी कि इस पुचकार पर वह रो पड़ेगी। पर वह बोली, 'मम्मी ने रिसेपशन में कहकर रिजर्वेशन करा लिया है। कन्फरमेशन बाकी है, सो होता रहेगा। आप भी चल रहे हैं।'

'मैं? क्या मेरा भी टिकट हो गया है?'

'शायद हुआ तो है—आप देख लीजिए। हम सब तो जा ही रहे हैं।'

उस समय पास बैठी मेरी वह बेटी चारु जाने कितनी दूर थी। मैंने कहा, 'मुझसे पूछना तो था।'

'मम्मा आई थीं पूछने। कहती थीं, आपने धक्का देकर उन्हें दूर कर दिया है!'

'तो यह कहती थीं—'

और उठकर मैं फिर उसी तरह टहलने लगा। चारु मुझे देखती पलंग पर बैठी रही।

यह क्या हो जाता है कभी? सगो के बीच ही ऐसा होता है एक क्षण में कि सब कट गया हो और बीच में अलंघ्य खाई पैदा करके आपस में इधर आर और उधर पार बन आया हो।

इतने में घन्टी हुई और चारू ने दरवाजा खोला। होटल का आदमी प्लेट में रखकर मेरे लिए पत्र लाया था। पत्र राजपाल महोदय का था। पूछा था कि आज शाम या कल दिन में क्या हम सब लोग भोजन पर साथ देकर उन्हें अनुग्रहीत कर सकेंगे।

आदमी से पूछा, 'यह जो लाया है वह आदमी है?'

'जी, नीचे गर्वनर साहब की कार है और ए० डी० सी० साहब आपके जवाब के लिए ठहरे हैं।'

मैंने पत्र चारू को दिया। पढ़कर वह बोली, 'कल तो हम जा रहे है!'

'तो क्या कह दूं आदमी को?'

'मम्मी को भेजती हूँ, उनसे पूछ लीजियेगा ।'

'तुम जरा बाहर ठहरो, भई अभी बताते हैं ।—या चलो, मैं ही चलता हूँ उधर ।'

रामेश्वरी सामान पैक-पाक कर रही थी । मैंने कहा, 'गर्वनर साहब का यह खत है । सब को खाने पर बुलाते हैं, आज शाम या कल सुबह । क्या कहना है उन्हें ?'

बोली, 'गर्वनर साहब !'

'हां, आदमी खड़ा है जवाब ले जाने के लिए ।'

'पहले यह बताओ, तुम चल रहे हो ? हम लोग तो जा ही रही हैं । अब तुम जानो, जो कहो । गर्वनर साहब को इन्कार करना तो ठीक नहीं है ।'

'तो आज शाम के लिए कह दूं ?'

'कह दो, लेकिन तुम अपनी बताते जाओ, चल रहे हो ?'

'देखो रामेश्वरी, तुम फिजूल घबराती हो । मान लो, अपरा है बम्बई में । तो घबराने से क्या होगा । या दिल्ली जाकर क्या हो जायेगा ?'

'कुछ नहीं हो जायेगा । तुम सोते रहो तो समझते हो कोई कुछ नहीं कर सकता । वहाँ से गुरु को कहकर भिजवाऊंगी किसी को बम्बई । कोई खेल-तमाशा है !'

'न-ना, यह न करना—अव्वल तो कहता हूं तुम्हारा डर फिजूल है । फिर यह चीजें उतावली की नहीं होती हैं ।'

'रहने दो बस अपनी शिक्षा, कहीं और चलाना वह ।—तो बताओ, हम अकेली जाएं कि तुम चल रहे हो ?'

मैंने कहा, 'वहाँ आदमी खड़ा है । तो आज शाम के लिए कहे देता हूं ।—सब लोग तैयार हो जाएं । बच्चों को भी चलना है । गाड़ी ठीक सात पर आ जायेगी ।'

'तो समझ गई मैं । लो, तुम्हारे टिकट को मने किये देती हूं ।'

मैंने यह सुना नहीं और आकर आदमी को लिख दिया, आभारी हूँ, आज शाम ही रख सकते है, कल शायद जाना हो जाये ।

और मैं जैसे छिटका-सा दूर डल गया। तैयारियां होनी चली गयी और पाया कि व्यवस्था पक्की है। बच्चे, चारु, रामेश्वरी कल जा ही रहे हैं।·· राजपाल महोदय के यहां बड़ा भोज नहीं था, पारिवारिक मिलन जैसा ही था। चारु और रामेश्वरी गर्वनर महोदय की पत्नि और उनकी छोटी साली से खूब घुल-मिल गई और बच्चे थोड़े असमंजस के बाद आपस में रम गये। मुझे राजपाल महोदय ने बाहर लॉन में अकेले में बिठा लिया और पूछा, कल मैं भी जा रहा हूँ। मैंने कहा कि मेरा निश्चय नहीं है। बोले कि आपसे बात करनी थी, रह सकते तो अच्छा था। मैंने कहा कि आप श्रीमती से पूछ लें। चार-एक रोज तो सम्भव हो ही सकता है। सब छोड़ राजपाल महोदय तत्काल मुझे लेकर भीतर आये और मेरे लिए मानों उन्होंने रामेश्वरी से अनुमति की भिक्षा मांगी। श्रीमती जी ने कहा कि यह रहना चाहें तो अवश्य रहें, रहना तो हमको भी था। चारु को जाना पड़ रहा है और अकेली बेचारी कैसे जायेगी।···पर आप, जी, रह क्यों नहीं जाते, अगर गर्वनर साहब कहते हैं।

मैंने कहा, 'गर्वनर तो यह राज्य के हैं। घर की तो आप हैं !'

गर्वनर की श्रीमती जी ने कहा, 'आप लोग भी रहिये न। मौसम भी अब तो खिलता जा रहा है !'

लेकिन रामेश्वरी के लिए यह सम्भव न था, और मुझे उसने कहा, 'इतना वह कह रहे हैं तो आप रह ही जाइये न।'

अगले रोज समय पर गर्वनर महोदय की गाड़ी आ गयी और मैं आबू रोड स्टेशन स्वयं जाकर दिल्लीके लिए उन सबको ट्रेन में विदाकर आया।

गर्वनर महोदय अपनी स्थिति से पूरे प्रसन्न न थे। गांधी जी का साथ पाया है और वृत्ति धार्मिक है। पत्नि तो और धर्मशीला हैं। समूचा परिवार ही सात्त्विक और सुरुचि-सम्पन्न है। दिखावा नहीं, न आडम्बर। कहने लगे, उनकी कठिनाई यह है कि राजनीति में से गांधी लुप्त हुए जा रहे हैं। देश में और विदेश में हिंसक यत्नों का विश्वास बढ़ रहा है। गांधी के देश में भी उत्पात और उपद्रव में ही एक उपाय

शेप रहना दीखे तो बड़े दुःख की बात है। तब गाँधी का सत्याग्रजीत आया वैसा गया। उन्हें समझ नहीं आता था कि क्या करें। मुझसे से अपेक्षा थी कि कलम से मैं बहुत कर सकता हूँ। इत्यादि भूमिका रू चर्चा में मैं रात को कोई दस बजे होटल आया हूंगा। तभी मैंने बम्बई के लिए अर्जेण्ट काल बुक कराई। जल्दी ही फोन पर आदित्य मिल गये। मैंने कहा, 'आदित्य, चारू वगैरा सब लोग दिल्ली गये हैं।—अपरा वहां हो तो उसे फोन दो तो।'

बोले, 'अपरा!'

मैंने दृढ़ता से कहा, 'हाँ, उसे दो।'

'ये लोग एकाएक दिल्ली कैसे चले गये? आपको उन्हें रोकना था।'

दो टूक मैंने कहा, 'अपरा को फोन दे दो।'

अपरा के फोन पर आने में कुछ देर लगी, बोली, 'मैं अपरा बोल रही हूँ—इन्होंने आपको कहा नहीं, मुझे भी कहने नहीं दिया। चलिए अच्छा है, आपने मालूम कर लिया कि मैं यहाँ साथ इनके बम्बई में हूँ—।'

एकाएक बात रुकी। बहुत धीमी आवाज में सुनाई दिया, 'आदित्य, वुड यू माइंड गोइंग टू दी लाउज फोर ए व्हाइल'—और बोली, 'जी मैं कह रही थी, इन्होंने मुझे भी कहने नहीं दिया—आप नाराज हैं?'

'अपरा, बच्चे वगैरा सब दिल्ली गये। चारू ने मालूम किया कि तुम दिल्ली वापिस नहीं गईं—लेकिन मैं नहीं समझ सकता था कि तुम—'

हंसकर बोली, 'रुक गये आप। कह रहे थे कि मैं—यानि, मैं क्या?—सुनिए, आप के आदित्य मुझे चाहने लग गए हैं—वजह मैं नहीं जानती। मेरी तरफ से तो उलटी वजह थी। लेकिन खैर।—'

'अपरा, यू नो, यू ओ एन एक्सप्लेनेशन टू अस आल।'

'नो, आई डौंट।'

वेटी है। और मुझे यह आशा न थी—'

'लेकिन आप ही चारू को स्नेह नहीं करते हैं, शायद मैं ज्यादा करती हूं। आपको मालूम है कर मैंने क्या देख लिया था। देख लिया था । अपना डर, पति का डर। आप पिता हैं, लेकिन मुझे है कि उसकी आँखों में यह सब आप देख सके थे।·· फिर आदित्य मिल गये। बस सोच लिया कि ठीक मुझे ही करना, भुगतना होगा··· आदित्य मेरी तरफ झुकते दीखे। निश्चय हो गया कि मैं कर सकती हूँ···अपने आदित्य को आप जानते हैं। क्षमता जो पैसा कमा सकती है, दूसरा भी बहुत कुछ कर सकती है।···देखती थी कि गिरिस्ती ऊपर से भरपूर है, पर नीचे खोखली न हो···मेरी कोई गिरिस्ती नहीं है, सब जला बैठी हूँ, और आजाद हूं कि बेढब कामों में काम आ जाऊं।—गिरिस्ती रचकर मैंने यह सब सीख लिया और आठ बरस में मैं जीवन भर के लिए उससे भर पाई···मैं अब अकेली हूँ और गिनती के बाहर हूं। किसी गिनती में नहीं हूं। मैं सब के लिए खर्च हो सकती हूं···मेरा कोई घर नहीं है और मैं सबका घर बना सकती हूँ।'

'अपरा, क्या बक रही हो तुम।'

'मुझे टोकिये मत। आप भी मुझे गलत समझते हैं, तो समझा कीजिए।···लेकिन आदित्य में सम्भावनाएं हैं···प्यार से आप डरते क्यों है? मैं तो नहीं डरती। आदित्य में अगर प्यार जगा है मेरे लिए, जैसा वह कहते हैं, तो मौका है कि मैं आदित्य को उठाऊं और जो डर है चारू में सदा के लिए उसे दूर कर दूं।···आप सोचने में रहे हैं। अब उम्र पर भी आ गये हैं ··आपको मालूम है कि आपके विचारों से मैंने क्या सीखा और जाना है? उसी का प्रयोग कर रही हूँ तो आप चौंकने बैठते है!···वूमन इज टु मैन ए चैलेंज, एन इंड्यूसमेंट, ए फुलफिलमैंट एण्ड फाइनली ए डिस-इल्यूजनमैंट। आदित्य छुटपन से पैसा जीतने में रहा है। उसके मन ने चोट खाई और तभी से पैसे से उसको

भरने में जुट गया है—उनको संघर्ष चाहिए, चुनौती चाहिए, जीत चाहिए—वह सब मिलेगा और अन्त में डिसइल्यूजनमैंट भी मुझसे मिलेगा !'

'अपरा, कहीं यह तुम्हारी वड़ तो नहीं है—सुनो, फौरन मुझे लम्बा खत लिखो। मैं अभी चार-पांच दिन यहां हूँ। तब जो यह सनक फोन पर छांट रही हो, उसकी तुक शायद हाथ आए। लिखोगी ?'

'कैसे लिख सकूंगी मैं। नहीं, भीतर सब साफ नहीं है। तार उलझे हैं। लेकिन मानिए, आई एम सिनसीयर। आई एम अनट्र्यू टु नो वन।'

'कोशिश करना, शायद लिख सकोगी। लिखना तुम्हारी मदद करेगा। मुझे इन्तजार रहेगा। आदित्य कैसा है ?'

'कुछ नहीं कह सकती मैं। सब भवर में हैं। मैंने अपने को इम्तहान में डाल दिया है। शायद सब ठीक होगा। लेकिन खून भी हो सकता है, मर्डर। मर्डर इज जस्ट नाट इम्पासीबल, नार सुसाइड !'

'अपरा, बन्द करो। जो हो लिखना। सब लिखना। लो छः मिनट हो गया। परसों खुलासा तुम्हारा खत मुझे मिल जाना चाहिए।'

'ब्लेस यू, एण्ड मे गाड हेल्प मी।'

फोन बन्द हुआ और मेरे सामने गोरखधधा आ गया।

दो रोज तक मैं राजपाल महोदय के यहां नहीं जा सका। तीसरे रोज अपरा का पत्र आ गया। उस रोज फिर गर्वनर महोदय के यहां भी गया। उनका खेद और विषाद सच्चा था। उनमें था कि गाँधी जी के बाद देश का नैतिक पतन हो रहा है, उसको कैसे रोका जाये। मेरे मन में इस बारे में बहुत चिन्ता नहीं है। मैं उस ढंग से सोच नहीं पाता हूँ। पतन कोई नहीं चाहता, सब उत्थान चाहते हैं। इसलिए प्रयास पतन का हो यह सम्भव नहीं है। फिर भी यदि उसकी विवशता है तो दोष आदमी का नहीं है, परिस्थिति का है। यानी उनका है जो व्यवस्था का दायित्व सम्भालते हैं, परिस्थिति की रचना करते हैं। और

परिस्थिति मुख्यता से आर्थिक वस्तु है। यही सब मैंने गर्वनर महोदय को कहा। कहा कि यह तो देखने का भेद हैं। पतन परिणाम में दीखे, उत्थान के हेतु में भी उस ओर बढ़ा जा सकता है···गांधी थे तो भारत कंगाल था। इसलिए कुटिया थी जिसमें गांधी रह सकते थे। देने को उनके पास था क्या? इसलिए आह्वान दिया तो कहा, आने से पहले सोच लो, आगे सजा है, जेल है, लाठी-गोली की मार भी हो सकती हैं। स्वराज बाद का भारत कंगाल नहीं बहाल है। अब कहा जा सकता कि आओ, देखो, आगे पद-पदवी है, कार-कोठी है, वेतन-भत्ता है, सब मिलेगा। देखिए, दिल्ली में कैसे-कैसे आलीशान मकान बने है। अंग्रेजों ने अपनी शान-शौकत के लिए जो बनाया अब सब भारतीयों का है। बाहर से विदेशी आते तो गांधी को सेवाग्राम में मिलने जाने के लिए ढंग की सड़क तक वहां न थी। न ठहरने का ढंग-वंग था। अब पर्यटक यात्रियों के लिए बताइये क्या नहीं है? जो उन्नत से उन्नत देशों में है, वह सब ऐश यहां भी हैं। अभी नहीं तो आजकल में नाइट क्लब हो जायेंगे।···भाखड़ा मैं नहीं गया हूँ, लेकिन सुना है। एक नहीं ऐसे अनेक निर्माण हैं जिनको देखकर दुनियाँ दंग है···'

बोले, 'तुम तो प्रसाद बात को व्यंग्य में खींचे ले जा रहे हो।'

मैंने कहा, 'जी नहीं, व्यंग्य बिल्कुल नहीं है। पूरी गम्भीरता और सच्चाई के साथ कह रहा हूँ। हम क्या चाहते हैं देश को बनाना? क्या उसे ऐश्वर्यशाली ही हम नहीं देखना चाहते? खूब बढ़ा चढ़ा निर्यात हो और अन्तर्राष्ट्रीय मार्किट उसके हाथ में हो। बड़े-बड़े उद्योग हों और बड़ी से बड़ी मशीनें यहीं अपने घर में बनने लगें। हमको यह चाहना चाहिये और हम चाहते हैं। और स्वराज के इन सब वर्षों में हम लगातार उस ओर बढ़ते रहे हैं। इस यत्न में कहीं से हम ढीले नहीं हुए, मुड़े भी नहीं। साम्पत्तिक हमारे मूल्य रहे और आदर्श हैं। उनकी तरफ बढ़ते हुए फिर यह हम नैतिक को क्यों ले आते हैं? भूल है हमारी तो यहां है। नैतिक की चिन्ता हमें छोड़ देनी चाहिए।

बोले, 'तुम कहना क्या चाहते हो प्रसाद ?'

मैंने कहा, 'मैं उन्नति का पुर्नविचार चाहता हूँ। उन्नति अगर वही है कि जो है तो उन लोगों की एक नहीं सुनी जानी चाहिए कि जो नैतिक बखानते हैं। इसीलिए पतन मुझे नहीं दीखता है। क्योंकि जो है वह उत्थान के परिणाम में है, उसका अनिवार्य अंग है। मुझे लगता है कि या तो आर्थिक की जगह नैतिक को ही ध्यान और ध्येय में लिया जाय। नहीं तो आर्थिक योजनाओं में किसी भी ओर से नैतिक को बीच में आड़े न आने दिया जाय।'

बोले, 'मुझे क्या सलाह देते हो, प्रसाद। मैं जहां हूं वहाँ से अधिक उपयोग हो सकता है, या छोड़कर सीधे रचनात्मक कार्य में जा बैठूं तो अधिक उपयोगी हो सकता हूं।'

सुनकर मैंने अपने उस मान्य बन्धु को देखा। वह भी किससे सलाह मांगने बैठे थे ? जो निरे शब्द बनाता है और करते-धरते जिससे कुछ बनता नहीं है !

आठ

राजपाल महोदय के मन में सच्चा अन्तरद्वंद था। मैंने कहा, 'गांधी जैसे रहते थे, क्यों रहते थे ? क्योंकि देश दीन था। आज जहां स्वराज है, वहाँ दीनता कहाँ है ? आज औसत राजनीतिक के रहने का स्तर जाने कितने गुणा ऊंचा हैं। यह 'स्टैन्डर्ड आव लिविंग' के उठने का प्रमाण है। और क्या देश के करोड़ों देशवासियों का जीवन-स्तर हम

उठाना ही नहीं चाहते ? --कहते मैं कह गया, लेकिन देखा कि उन माननीय मित्र को बात चुभी है । मैंने बाद में उसको सम्भालने की चेष्टा भी की, पर उन्होंने मुझे टोका नहीं । गहरे दर्द के साथ कहा कि सच-मुच इस गवर्नरी में वह जाने कैसी-कैसी जकड़ में बंध गए हैं । जब ठौर ठिकाना न था, जेल का खतरा सिर पर मंडराता रहता था, उस समय की मन की ताजगी और खुशी तो जैसे अब सपना बन गई है ।

सुनकर मैंने अपने शब्द मन-ही-मन वापिस लिये । कहा कि शासन-मुक्त समाज तो आदर्श से बाहर कहीं है नहीं । होने वाला नहीं है । शायद गांधी जी ने खुद कहा कि समाज में अन्त तक कुछ शासन जैसा रहेगा । ईश्वर को अपने ऊपर शासक मानने से सृष्टि की काफी सहा-यता होती है ।

बोले कि मुझे समझाओ मत प्रसाद । गवर्नरी का यह ठाठ-बाठ सच है, यह तुम मुझे बता नहीं सकोगे, उसका झूट में प्रति क्षण इतना अनुभव करता हूं ।

मुझे दुःख हुआ कि मेरे शब्द उनको मन के इस विमर्श तक ले आये थे । मैंने कहा कि आप जैसे गवर्नर देश को मिले तो संकट दूर हुआ रखा है । गांधी जी ने कब राजाओं को समाप्त करना चाहा था ? और वह चाहते वैसे आप ट्रस्टी बने ही हैं । भीतर से अनासक्त हैं, तो प्रजा की ओर से आपको मिला यह ट्रस्ट प्रजा का हित ही करेगा और आपकी आत्मा का भी अहित नहीं करेगा ।

मान्य मित्र बोले, अनासक्ति ! और मुस्करा आए । बहुत ही करुणाजनक वह मुस्कराहट थी । मुझे उन मित्र की याद आती है और उस याद पर सचमुच सोचने लगता हूँ कि गाँधी अभी मरे नहीं हैं !

...होटल आकर अपरा का पत्र एक बार मैंने फिर पढ़ा । बड़ा अजीब सा लगा उसका तर्क । लगता था कहीं वह अपने को छल तो नहीं रही है ! उसने अपनी सफाई नहीं दी है, विवरण भर दिया है । मुख्य उसमें यही कि वह अपने में और अपनी चिन्ता में नहीं रहना चाहती । यहाँ

क्या पाना बटोरना है ? उसके पास कुल वह है जो विला॰
है। पाँच सौ पौंड साथ लाई थी, जिसमें कुछेक खर्च हुआ ।
सब रुपये की शक्ल में आनन्द जी के पास है। बैंक वाला भी
उनका कर चुकी हूँ। विलायत की जिन्दगी देखी है, खूब देख ...ा हैं।
सब अपने-अपने को लेकर व्यस्त हैं, हर दूसरे को अपने लिए मानते हैं।
ऐसे बहुत उन्नति वहां हुई है। क्यों कि हर कोई विवश है कि चौकन्ना
रहे और काम अपना बना ले जाए। मैं इस खेल में हारी नहीं, लेकिन
धीरे-धीरे मन ऊब गया। फिर यहाँ की पतिव्रता सती स्त्री का ख्याल
आया। ऐसा लगा कि उसमें कुछ है। अपने को दे के रहने का स्वाद
कुछ अलग होगा, शायद ऊंचा होगा। मैं उस पतिव्रत्य को झूठा और
दकियानूस विचार समझने लगी थी कि वह बंधना और दबना है।···चार्ली
मुझे मानता था। लेकिन उनसे पहले अपने को मानता था। अपने को व्यव-
साय में और मुझको कर्तव्य में रखना चाहता था। व्यवसाय कि जिसमें
व्यक्ति अपने को केन्द्र में रखता है, बाकी को परिधि पर। इस सूत्र जीवन
चले तो पति-पत्नि सम्बन्ध नैतिक और धार्मिक नहीं रहेगा, व्यावसायिक
हो आयेगा।·· मैंने भी देखा कि अनेक पुरुष हैं और कोई कारण नहीं कि
मेरा जीवन अछूता रहे। इसमें कई टूटे होंगे, मैं बनती गई। यह मेरा
बनना था जो चार्ली को खटकता दीखा। मुझे खुद लग रहा था कि कुछ
गड़बड़ है। लेकिन चार्ल्स को सन्तोष कैसे दे सकती थी ? तो आगे बढ़-
कर मैंने दोष अपने ऊपर लिया और तलाक हो गया। चार्ली अपनी
आंखों में अनुदार नहीं हो सकता था। स्वाभिमान का गर्व ही है उदारता।
आखिर वह नहीं माना और तलाक पर भी पाँच हजार पौंड बैंक में मेरे
नाम करके ही रहा। लेकिन मैंने माना कि वह मेरा नहीं है और मुझे
अव्यवसायी जीवन शुरू करना है। मैं नहीं जानती कि वही आत्मिक
होता है कि नहीं। भारत देश से मैं अनमनी हो चली थी कि वह नैति-
कता में पड़ा है और व्यवसाय नहीं जानता है। अब उसी का आकर्षण
हुआ और मैं भारत आ गई···अब मैं किसी की पत्नि नहीं हूं, होने की

सम्भावना भी समाप्त हो गई है। आदमी को मैंने देख लिया है, वह बेचारा होता है। इस बेचारगी में धर्म-पत्नि सचमुच उसे सहारा होती होगी। इस धर्म-पत्नि शब्द का मुझमें आकर्षण हुआ। लेकिन उसका अर्थ मेरे लिए पुरुष की पत्नि से आगे खुद धर्म की ही पत्नि हुआ जा रहा है। पत्नि से चाहा जाता है कि वह एक में खो जाये। मैं अपने को एक में खो नहीं सकी, न आगे खो सकूंगी। सो इसका अर्थ मेरे लिए यह हो गया है कि मैं स्त्री हूँ, अपने धर्म को नहीं भूल सकती हूँ, और सबके निकट स्त्री हूँ। स्त्री के प्रति पुरुष में प्यार हो तो मैं उसका सत्कार ही कर सकती हूं। लेकिन यह तो बड़ा कठिन मार्ग है। प्रीति का मार्ग प्रभु का मार्ग है, उसको ब्रह्मचर्य ही कहना चाहिए। यह तो कठोर और दुर्धर्ष है और मैं इसमें आ पड़ी हूँ। भारत में थोड़े ही दिनों से हूँ···किसी परीक्षा का मेरे लिए अवसर नहीं आया। जहाँ लोग बच के रहते और सम्भ्रम रखते हैं। पर आदित्य दूर नहीं रहा अपनी चाह लेकर पास आ गया और मुझे पास लेना चाहा···। ऐसे मैं बम्बई हूँ और···अग्नि परीक्षा में हूं···चारू धर्म-पत्नि है और मैं सती पत्नि को बहुत ऊंचा स्थान देती हूं। द्रौपदी पांचों पांडवों की धर्म-पत्नि हो चुकी है, वह और ऊंची रही होगी। राधा पत्नि थी ही नहीं, कृष्ण की धर्मपत्नियों के समुदाय से बाहर थी। पत्नियों के लिए श्रीकृष्ण पुरुष रहे होंगे। राधा के लिए थे साक्षात् विराट परमेश्वर, अनन्त लीलामय। इसलिए राधा द्रोपदी से भी ऊंची हो जाती है···छोड़िए, मैं क्या बक रही हूं···आप हंसते होंगे, लेकिन मेरे लिए हंसने की बात नहीं है, तिल-तिल जलने की बात हो गई है। होटल के एक ही कमरे में आदित्य के साथ हूं। वह मुझे चाहते हैं। ऐसी चाह में कि जिसमें कोई अपने को निछावर कर आए, ईश्वर बसता है। मैं परम कृतज्ञता और भक्ति से उस कामना के प्रति नमन करती हूँ···लेकिन पत्नि तो मैं धर्म की बन गई हूं, इसलिए पुरुष को दे सकूँ, ऐसा मेरे पास बचना ही क्या है?—नहीं जानती कब तक यह यज्ञ चलेगा। क्या, कितना, किनका उसमें स्वाहा होगा। लेकिन मुझे आशा है कि चारू का

सौभाग्य सम्पूर्ण बनेगा और उसकी धरोहर उसे अक्षुण्ण प्राप्त होगी। मुझे आशा है, वन्या का साढ़े बारह हजार आदित्य के पास से उन्हें जल्दी ही मिल जायेगा···अगर वह अगले साढ़े बारह हजार की भी जिद् करेंगे तो नहीं जानती मैं उन्हें कब तक रोक सकूंगी। वह तो मैं अपने बैंक के रुपये में से ही दे डालना चाहती हूं···वन्या जी को अपने धाम के लिए अवश्य एक लाख की राशि मिल जानी चाहिए···मुझे दुःख है कि वह भजन के मार्ग से मनन पर आ उतरी हैं। इसमें कर्तृत्व का नाश नहीं होता···अच्छा होता कि वह धर्मपत्नि हो पाती। ऐसे भाग्य कर्तृत्व को अनायास ही हाथ से छीन ले जाता है···एक तरह सहानुभूति होती है मुझमें वनानी जी के प्रति कि यह नहीं हो सका··लेकिन उनका जीवन उनका है। और ऋषि-मनीषी होने का मार्ग उन्होंने पकड़ा है तो वह जाने। उस सम्बन्ध की उनकी लगन में हमें तो सहायता ही करनी चाहिए···भारत में आकर आप से मुझे मिलना था। आपकी एक पुस्तक ने मुझे झिझोड़ा और मोड़ा। मुझे तब लगा कि व्यवसायी पश्चिम आज नहीं तो कल उस राह से पलटेगा। क्योंकि वह राह कहीं पहुँचाती नहीं है, सबको अपने-अपने में निपट अकेला और अजनबी बनाकर रुक जाती है। आदमी और आदमी के बीच अन्तर को पाटती नहीं है, गहरा कर जाती है। राष्ट्रों में इसीलिए युद्ध उपजाती है कि व्यक्तियों में स्पर्धा जगाती है···वहीं किसी ने गुरु आनन्द के नाम पत्र दे दिया। गुरू आनन्द ने ही उन्हें विदेश भेजा था और कहा था कि देखना, गहराई से देखना। युवक उनसे प्रभावित थे और गुरू से मिलकर मुझे एक साथ लगा कि मैं अपने में हल्की और खाली हो सकती हूं···और उनके द्वारा जल्दी ही आप मिल गए।···लीजिए सब हो गया है और अब चाहे जो फैसला दीजिए। यह सफाई नहीं है और दोष या दण्ड से मैं बचना नहीं चाहती हूं। लेकिन आशा है आप देखेंगे कि यह सजा ही है जो मैं अपने नये जीवन के विश्वासों के लिए पाना शुरू कर रही हूं।'

पत्र में बीच-बीच से मैंने कुछ अंश छोड़ भी दिये हैं। वे अत्यन्त

निजी थे और यहां के लिए आवश्यक नहीं हैं। यह कहना भी अनावश्यक है कि पत्र अंग्रेजी में था और हिन्दी-संक्षेप में जहां-तहाँ वजन का कुछ फर्क हुआ हो सकता है।

क्या पत्र से चित्त को समाधान हुआ? पर सहानुभूति तो हुई। हम राष्ट्र को देखते हैं, संगठनों को खड़ा करते हैं। यहां तक कि राजप्रकरण व्यक्ति को पहिचानता ही नहीं। उसके हिसाब में संस्था और संघ ही आते हैं। वहां बुद्धि को सतर्क और सन्नद्ध रखना पड़ता है। ठीक है, पुरुषोचित क्षेत्र है वह। वहाँ इसलिए भावना का स्थान भी कम रहता है।···राजकारण में है स्त्रियां, पर लाई हुई सी हैं। जगह वहां उन्होंने बनाई नहीं है, जितनी दी हुई पाई है।···लेकिन भावना का जीवन में कम स्थान नहीं है तो स्त्री का भी कम नहीं है। लेकिन कम है, और इसीलिए कहना होता है राजकारण अधूरा है, भावना की ओर से मानों सूना है। कर्म की ही वहां घोरता है। भावना जो कि भीतर रहती है, ऊपर दीखने को नहीं आती। और मैं सोचता हूं कि···अपरा जैसी स्त्रियों का क्या होगा? दुरदुराहट से अन्य क्या कुछ उन्हें मिलेगा?

तय किया कि फोन करना होगा। फोन पर आदित्य मिला। आवाज उसकी कुछ मन्द मालूम हुई। मैंने कहा, 'कहो आदित्य, मजे में हो?··· तुम होटल का बिल चुका गए, इसलिए बाकी दिन यहां बिताए दे रहा हूं। नहीं तो तुम्हारी मांजी के और बच्चों के साथ मुझे भी दिल्ली जाना चाहिए था···चारू तो मानी ही नहीं···यह तो होटल वाले थे सज्जन कि उन्होंने बाकी दिनों का तुम्हारे अपार्टमेंट का पेमेंट रिफन्ड कर दिया···हां, तुम शायद गवर्नर से कहने के लिए कुछ कह रहे थे। क्या था, मुझे ध्यान नहीं रहा···।'

'कुछ नहीं—आप अपरा से बातें करना चाहते हैं, लीजिए, वह आ रही हैं—मैं बाहर चला जाता हूं।'

'नहीं-नहीं आदित्य हैलो, आ दित्य—'

लेकिन फ़ोन उधर अपरा के हाथ में आ गया था और वह कह रही थी, 'मैं अपरा हूं. कहिए ?'

'आदित्य क्या हुआ, उसे फ़ोन दो।

'वह तो अभी बाहर गये हैं !'

'बाहर गया ?...अपरा, तुम्हारा खत मिल गया।...आदित्य तुम्हारी वजह से बाहर गया है न ?'

'जी हां।'

'अपना खत तुमने उसे बताया था ?'

'वैसे तो नहीं, लेकिन लिखकर खुला लिफ़ाफ़ा पोस्ट करने के लिए उन्हें दिया था। मतलब था कि वह पढ़ लेंगे। लेकिन उन्होंने पढ़ा नहीं और मैंने बाद में कहा कि खुला इसीलिए तो दिया था कि तुम पढ़ लो। आदित्य ने मुस्करा कर कहा, खुला कहां था, तहों में मुड़ा हुआ था ! और तुम्हारा निजी खत, तुम ही सोचो, मैं कैसे पढ़ सकता हूं ?...मैं उन्हें अपना इतिहास सुनाना चाहती हूं, वह टोक देते हैं। कई बार कहा है कि मैंने अनेक पुरुषों को जाना है, पर सुने को उन्होंने अनसुना कर दिया है। एक बार मैंने कहा कि मैं अपवित्र हूं ! तो उन्होंने मुझे चांटा जड़ दिया।...बहुत समझाती हूं कि पुरुष के पौरुष की अवज्ञा नहीं है मेरी यह असमर्थता...वह गुमसुम हो जाते हैं। ज्यादातर बाहर रहते हैं। रात में देर से लौटते हैं, सबेरे जल्दी चले जाते हैं। जाने एकाएक काम की ऐसी क्या भीड़ हो आई है। कल शायद कलकत्ता जा रहे हैं...'

'तुम जा रही हो साथ ?'

'नहीं—।'

'तो तुम दिल्ली क्यों नहीं चली जातीं गुरु आनन्द के पास ?'

'उनके पीछे ? बचकर, छिपकर ?—नहीं, यह नहीं हो सकेगा।'

'छिपकर नहीं, कहकर आओ—या तुम उसे चक्कर में रखना चाहती हो ? सुनो अपरा, खत में तुमने सब लिखा है। लेकिन मुझे यह

पसन्द नहीं आया कि आदित्य धीमा हुआ है। बात के बीच में तुम्हें फोन थमाकर वह खुद बाहर क्यों चला गया ?···अपरा, आदित्य के पास परिवार है, जिम्मेदारी है।·· तुम्हारा उसके साथ यह खेल खेलना अच्छा नहीं है।'

मानो अपरा उधर से नाराज हो आई, बोली, 'आप अपनी बेटी का भविष्य संभला हुआ नहीं देखना चाहते हैं क्या—कि पत्र के बाद भी मुझसे इस तरह कहते है ?'

'बेटी का भविष्य इसमें नहीं है कि आदित्य मंद और अधीन हो। इधर-उधर आदमी थोड़ा भटक सकता है, लेकिन मन के गहरे में अगर क्षति ले लेगा तो उसका इलाज फिर मुश्किल है।···सच कहना, उसके गर्व को चूर करने का गर्व तो तुममें नहीं उठा है ? पत्र कहता है कि वह नहीं है···लेकिन तुम मानती हो कि मैं यह मान लूंगा ? भक्ति की और अकर्तृत्व की बातें तुम्हारी व्यर्थ हैं। अपने को अपवित्र वगैरह कह कर तुम उसे अपमानित ही कर रही हो !···मैं कहता हूँ अपरा, किसी के प्रति करुणा अपने में लाने का हमें हक नहीं है। मुझे लगता है कि तुम्हें आदित्य के सामने से अपने को फौरन हटा लेना चाहिए।'

'जी नहीं—शायद आप पिता बोल रहे हैं। मैं लेखक प्रसाद को मान्य रखना चाहती हूँ—और कहिए ?'

'ठीक बताओ अपरा, आदित्य ने इधर अपने काम-धाम पर ध्यान दिया है ? मैं जानता हूँ बम्बई में भी उसने अपना एक फर्म खोला हुआ है।'

'पहले दो दिन तो उधर उनका ध्यान नहीं रहा और···बल पर भरोसा रखा है—लेकिन इधर दो दिन से दफ्तर जा रहे हैं और···नहीं, बल का सीधा प्रतिरोध मैंने नहीं किया।—उतनी नादान नहीं हूँ।··· और लगता है वह भरोसा उन्होंने छोड़ दिया है—जी नहीं मैं दिल्ली अभी नहीं जा सकूंगी। उनको—या परीक्षा को बीच में नहीं छोड़ सकूंगी।'

'तुमको मालूम है कि दिल्ली में नई फैक्टरी उसने शुरू की है। पर उसको संभल रहना चाहिए, नहीं तो सब डूबेगा।'

'मुझे नहीं पता था जी, प्रसाद जी, कि आदमी से पहले प्राण [illegible] फैक्टरी [illegible] जायेंगे, क्या मालूम कि यह फैक्टरियाँ ही उनकी आत्मा का अहित कर रही हों।'

मैंने कहा, '[illegible] गुड डे [illegible] विल।'

उसने कहा, 'थैंक्यू' और मुझसे पहले उसने अपनी तरफ से फोन ठप कर दिया।

मुझे बुरा मालूम हुआ। उठकर सोचता हुआ वहीं टहलने लग गया। एकाएक मालूम हुआ कि यह तो कमरा नहीं, गैलरी है। इस अटक पर सहसा सूझा कि मुझे दिल्ली गुरु आनंद को भी फोन कर देना चाहिये। गुरु जल्दी ही मिल गये और मैंने कहा, 'गुरु जी, कहिए, घर पर क्या हाल-चाल हैं?' बोले, 'सब ठीक है। राजेश्वरी चारु के साथ बम्बई जाने का विचार कर रही है। मेरे पास दोनों आई थीं। कुछ आदित्य के बारे में कह रही थी।···हाँ अपरा बम्बई में है, तो—? मैंने उन्हें कहा, व्यग्र न हो पर दोनों बड़ी चिन्तित मालूम होती थीं। उन का कहना था कि मैं जाऊं, या अपने किसी विश्वासपात्र को भेजूं? पर किसलिए? मुझे वह आवश्यक नहीं मालूम हुआ—खैर—और कल प्रकाश और रंजना कश्मीर से वापिस आते हैं शायद—। तुम कब आ रहे हो?'

मैंने कहा, 'देखिये गुरु जी, कोई बम्बई न जाये। चाहे तो मेरी तरफ से ताकीद से कह दीजिए।—आपका समझाना काफी होना चाहिए था—आप क्या समझते हैं कि अपरा—'

'मेरे पास समय खाली नहीं है, प्रसाद, और काजी का काम मेरा नहीं है।'

'लेकिन अपरा—'

'तुम्हें क्या हुआ है, प्रसाद?—खैर एक मजे का पत्र मिल

तुम न जानते होगे, लेकिन वह तुम्हें जानते हैं। प्रकाश ने अपने साथी मित्र को लिखा था और उसके पिता वह पत्र मुझे दे गये—तुम आ कब रहे हो, तब देख लेना।'

'क्या है उस पत्र में ऐसा कि आपको कहना पड़ रहा है। आऊंगा, देख लूंगा। लड़के हैं और उनकी नई दुनिया है। लेकिन देखिये, बम्बई कोई न जाये। यह बेवकूफी होगी। कल पहुँच रहा है प्रकाश वहां ?'

'हाँ। मालूम तो बड़ा आज्ञाकारी होता था। सीधा और नम्र—'

'वह तो है। लेकिन उसी से मन दबता है और फिर उतनी ही तेजी से दूसरी तरफ फिक आता है। अपने हैं शायद इस हक से हम बच्चों पर अपने इरादे चढ़ा देते हैं—आगे वही उन्हें भारी लगे तो इसमें क्या अनोखा है। वही पत्र में होगा और क्या ?'

'खैर, अब तुम जल्दी आ जाओ—बम्बई से तीन चैक आये हैं। पांच-पांच और ढ़ाई के। इस तरह कुल साढ़े बारह हजार। अलग तीन कम्पनियों के हैं और आदित्य का साथ पत्र नहीं है। अपरा ने जरूर लिखा था कि आदित्य वनानी जी के लिए साढ़े बारह हजार रुपया भिजवा रहे हैं। यह भी इशारा था कि शायद बाकी भी साढ़े बारह जल्दी ही आ जायें।—वनानी यहीं है और उसके धाम की योजना अगरचे आगे बढ़ रही है, पर वह उतनी प्रसन्न नहीं दिखाई देती। जगह यहां दोनों-तीनों देख ली है और जल्दी ही किसी एक का निश्चय हो जाएगा। वन्या जमीन ज्यादा चाहती हैं और मेरा भी जोर है कि जमीन काफी होनी चाहिये। बुद्धि की और आदर्श की बातों में जो हम ऊंचे उठ जाते हैं तो जमीन से टूट आते और हवाई बनने लगते हैं !—उसी में कुछ समय लग रहा है, लेकिन अगर बाकी रुपया आ जाये तो फिर देर लगाने का कोई बहाना नहीं रहेगा—मुझे लगता है कि तुम्हें अपने बारे में फिर से सोचना होगा, प्रसाद। तुम समझते हो कि प्रकाश के विवाह में तुमने निश्चिन्तता पा ली है। मैं तुमसे कह रहा था निश्चिन्तता यहां कहां रखी है। निश्चिन्त होगे जब पैसे से छुट आओगे। तब फिर

सम्बन्धों की विवशता से भी छूट जाओगे। यानि. सम्बन्ध कोई तुम पर फिर बोझ की मानिंद नहीं रहेगा। अभी तो ऐसा नहीं है न।'

'आपका आशय मैं नहीं समझा।

'तुम प्रकाश पर अपने को छोड़ रहना चाहते थे भई, लेकिन वह होना नहीं दीखता है।'

'मेरी अब भी कुछ समझ में नहीं आया, साफ कहिए न।'

'शायद तुम्हारी प्रकाश से कभी खुल कर बात नहीं होती। वह आज्ञा मानता आया है, और ऐसे दूर बन रहता है···अपने साथी के आगे उसने अपना मन खोला है। आकर पत्र देखोगे तो समझ जाओगे—निश्चिन्त रहो, बम्बई कोई नहीं जायेगा, और तुम आ जाओ।'

'तो कह दीजिए घर पर कि जल्दी पहुँच रहा हूँ।'

प्रकाश आरम्भ से विनयशील रहा है। कम बोलता है और सबके काम आता है। अपने सम्बन्ध में वह विश्वसनीय माना जाता है। मित्र उस पर भरोसा रखते हैं, मां उसे कुछ भी कह ले, कभी पलट कर उत्तर नहीं देता। इसलिए जब पढ़ना हो गया, तो प्रश्न हुआ कि वह क्या करे। अन्त में घर की किताबें छापने का काम लेकर बैठ गया। स्थिर वृत्ति का वह युवक है और २८ वर्ष की अवस्था से पहले आग्रह रहने पर भी उसने विवाह स्वीकार नहीं किया। मैं मानता था कि इसके अनंतर मुझे अपने राम को ही देखना है। अब सब ओर से निवृत्त जो हूँ।

पर पाता हूँ कि बात सीधी नहीं है। इसलिए नहीं है कि हम आत्मा के साथ शरीर भी हैं। हो सकता है कि लिखने का काम शरीर से कम जड़ित हो। पर पुस्तक जिसे कहते हैं, उसमें भाव और विचार ही नहीं होता, कागज-पुट्ठा भी लगता है। भाव भाषा प्राप्त कर ले, इतना बस नहीं है। उसको फिर पण्य वस्तु बनाकर बाजार भेजना जरूरी होता है। लेखक भीतर अपने मन के साथ बाहर उस मांग से भी जुड़ा है। यहीं से बात सीधी से टेढ़ी हो जाती है।

जैसा सोचता हूँ, वैसा मैं लिख छूटता हूँ। वह लिखा छपता, पोथी में

बंध कर बिकता और पैसा लाना है। पैसा वह जिलाता है। और पैसा वह गिनती में जुड़ना और हिसाब उपजाता है। इसलिए गिनती के हिसाब के बाहर नहीं हो आता, तब तक कोई समस्या से भी बाहर कैसे हो सकता है? सोचा था, वह हिसाब-किताब प्रकाश सम्भाल लेगा। मेरे जिम्मे प्रश्न आत्मा का रहेगा। उम्र हो गयी है और जाने कब महायात्रा पर चलना हो आए। उसमें शरीर यहीं छूट जाता है। साथ क्या जाता है? कहते हैं, आत्मा जाती है···इह लोक हुआ। किनारा उसका दूर पड़ता जा रहा है। परला छोर आया, कि यहाँ का सब यहीं छूट जायेगा। इसलिए बटोरना नहीं है, छोड़ना है। अपने में है उसी को रखना है। शेष को हटाते-निपटाते जाना है। सोचा था, यही होगा। पर यह नहीं होता दीखता है।

दिल्ली आया तो सब मिले। प्रकाश और रंजना भी आ चुके थे। देखा कि वे दोनों कोई सुर्ख होकर नहीं लौटे हैं, जैसी कि कश्मीर से आशा थी। उलटे दुबले और पीले दिखाई दे रहे हैं। और चारू अनमनी है; रामेश्वरी चिन्तित।

रामेश्वरी ने ही पहले मुझे लिया, कहा, 'कुछ तुमने इन्तजाम किया है?'

'कैसा इन्तजाम?'

'देखते नहीं चारू को, बेचारी आधी हो गई है!'

'तो तुम्हें समझाना चाहिये था। उलटे तुमने उसे और घबरा दिया होगा। छोड़ो, सब ठीक हो जायेगा।'

'वह मन पर से उस बात को दूर नहीं कर पाती है।'

'इधर तुम जो उसे मन में लिये बैठी हो! देखो, भई, उम्र पर क्या मुझ में ही अवारगी के लक्षण नहीं थे? पर क्या हुआ? मान लो तुम उस वक्त धीरज खो देतीं, तो क्या होता? गिरिस्ती तीन तेहरा हो चुकी होती। आखिर तुमने अपना मन मार लिया, या थाम लिया, तो अंत में सब सम्भलता चला गया कि नहीं?'

'बस बोलो नहीं, मैंने जो भुगता मैं जानती हूँ। भगवान न करे चारू को वह देखना पड़े।'

'यही तो कहता हूँ,' मैंने हंसकर कहा, 'आदित्य कामिन्दा आदमी है। मेरे जैसा गया बीता वह नहीं है।'

'जाने दो, मैं न तुम्हें डाट के रखती तो जाने क्या होता!'

'तो तुम क्यों फिकर मोल लेती हो? चारू को कह दो, डांट के रखेगी!'

'वही हो सकता तो क्या था। वह तो तुम पर पड़ी है। डांट खा लेगी, कुछ न कहेगी। बहुतेरा समझाया कि औरत की जिन्दगी ऐसे नहीं चलती है। घर उसका है और पूरी चौकसी नहीं रखेगी तो पछतायेगी। पर मन-मन में कुढ़ लेती है, अदित्य से जबान नहीं खोल पाती···आदित्य को मैं कुछ नहीं कहती। मर्द जात है। और देखो इस उम्र में कितना उसने कर लिया है। पर यह तुम्हारी विलायत की मैम—'

मैंने कहा 'आदित्य होशियार है, तुम मानो, सब ठीक हो जायेगा। चारू को भेजो तो यहाँ।'

चारू के आने पर मैंने कहा, 'क्यों बेटी, यह क्या हाल कर लिया है? क्या कहा था तुम्हें, भूल गयी? आदित्य आखिर कहाँ जायेगा, भटक कर यहीं तुम्हारे पास आयेगा। और सच पूछो तो अपनी किस्मत तुम आप बनाओगी। चाहो तो आप बिगाड़ भी सकती हो। चिन्ता में घुलोगी या कुढ़ोगी, तो क्या घर में आना तक उसे भारी नहीं लगने लगेगा? इतना काम उसे रहता है, दो घड़ी को आये तो क्या यह भी नहीं कि उसे कुछ खुशी तो मिले। क्या समझीं? अब यह रोग-सोग हटाओ। और ऐसे रहो कि आदित्य आये तो तुम्हें खिली देख कर अचम्भे में रह जाये ··यहां तुमने घूमना जारी रखा? वहाँ आबू में रोज जाने लगी थी ना?'

चारू मुझे देखती रही, सुनती रही।

कहां तुम प्रकाश की चिन्ता को अपनी तरफ लेने को कहती
तुम्हीं ऐसी हो रही हो !—क्या रंग-ढंग है प्रकाश का ?
आ॰ ना ?

धीमे से बोली, 'ठीक है।'

'कहाँ ठीक है ? दुगने होकर आना चाहिए था उन्हें, उलटे आधे दीखते हैं।'

'उसका काम ठीक नहीं चल रहा है, बाबू जी। अपने को वह आप पर बोझ मानता है। पर वह सब ठीक हो जायेगा। मैंने उनसे जिक्र किया था—पर, बाबू जी, मेरे लिए नौकरी ढूंढ दीजिये।'

'यह क्या बक रही हो, तुम चारू ?'

'कोई सौ रुपये की भी हो !'

'पागल हो गयी हो क्या ?' मैंने उसे देखा। वह भीतर से भर आयी थी और पल्ले में मुंह देकर रोने लगी थी।

'छीः—छीः, यह क्या कर रही हो ?—दो-दो, तीन-तीन हजार रुपये पाने वाले तो तेरे इतने नौकर हैं, और तू ऐसा कहती है ! कितनी भागवान है तू, यह भी तो सोच। हम सब को तुझ पर गर्व है।'

लेकिन चारू रोते-रोते हिचकियां भरने लगी। मैंने उसे गोद में लिया, सिर पर हाथ फेरा, कहा, 'बेटा घबराती क्यों है ? उठ सब ठीक हो जायेगा।'

थोड़ी देर में वह उठी, कहा, 'मैं उनके लायक नहीं हूँ, बाबू जी।'

'धत्त पगली ! सच पूछे तो वही तेरे कम लायक है···एक बात कर। अपने को उसके लिए दुर्लभ बना दे। शायद तू बहुत सुलभ हो जाती है, समझी ? खुश रह और बेफिकर। लेकिन जल्दी मान न जाया कर···और समझ ले तू अपने पर है। नौकरी-से यही तो होता है कि आदमी कमाई के बूते अपने को आजाद मान लेता है। तुम भी अपने को आज़ाद समझो। पैसे का उसके कोई दबाव न मानो। कभी पैसे को लेकर तुम्हें कुछ कहा है उसने ? ताना दिया है ? बोलो—'

'नहीं।'

'बल्कि उलटे कहा होगा कि पैसा खुले हाथ क्यों खर्च नहीं करतीं ? क्यों, कहा है ना ?'

'जी—इसी पे वह बिगड़ते भी हैं। पर मैं नहीं करूंगी।'

'फिर वही ? देखो, मैं तुमसे कहता हूँ, उसके साथ, उसके पैसे के साथ, जितनी बेरहमी बरतोगी, उतना उसे अच्छा लगेगा। उसका और उसके पैसे का रौब हर कोई मान सकता है। इसलिए उसे ऐसा चाहिए जो उसकी बेपरवाही कर सके। बस-बस, अब हमारी चारू कुछ फिकर न करेगी और खूब खुश रहेगी—'

'मैं, बाबू जी, रंजना और प्रकाश को अपने घर ले जा सकती हूँ ?'

'तो क्या आबू से आकर तुम बराबर यहीं रही हो ? घर नहीं गयीं ?'

'अकेले क्या जाती !'

'अकेले क्यों, नौकर-चाकर है, बच्चे हैं—ठीक है, रंजना को ले जाओ।'

चारू के बाद प्रकाश से बातें हुईं। पूछा, 'प्रकाश, कहो कैसी रही कश्मीर की सैर ? पहलगांव कितने दिन रहे ? और कुकरनाग—अरे वहां तो दो-चार रोज जरूर रहना था। खिलनमर्ग के पार भी गये कि नहीं, अलपत्थर ?—पर यह तुम उलटे झटके दिखाई दे रहे हो। खर्च-वर्च की दिक्कत तो नहीं हुई ? या ठहरने की कहीं असुविधा ?'

'जी नहीं, सब ठीक रहा।'

'तो फिर ?'

'जी कुछ नहीं।'

'देखो, काम-धाम की ज्यादा फिकर सिर न लो। बिजनिस में ऊंच-नीच आता ही है। मन बुझा रखने से कोई फायदा नहीं है। या—तुम कुछ और सोचते हो ?'

'जी ?—जी नहीं।'

'तुमने कोई खत लिखा था—गुरू जी को ?'

'गुरु जी को ? जी नहीं।'

'वहां कश्मीर में, कश्मीर के लोगों से मिलना हुआ कि नहीं ? जान-पिछान के लिए खत पत्र तो काफी ले गये थे।'

'जी हां।'

'कश्मीर की क्या हालत तुमने देखी ? वहां के लोगों के मनोभाव राजनीतिक स्थिति—इस सबके बारे में क्या राय है तुम्हारी ?'

प्रकाश बोला नहीं, मुझे देखता रह गया। मैं अपने आप से नाराज हो रहा था। चाहता था कि वह बोले और खुले। वह बंद था और इस कोशिश में जो मैं उसकी एक तरह परीक्षा लेने और जिरह करने लग गया, तो मुझे ही अनुभव हो रहा था कि यह गलत है। लेकिन उसकी 'जी-हाँ, हां-जी,' से जैसे मैं विवश ही होता चला गया। उसी बेबसी में बोला, 'तुम पढ़ लिख गये हो, बच्चे नहीं हो। बताओ न, क्या राय है तुम्हारी ? कश्मीर भारत का प्रश्न है कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बीच का है, या कि वह अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है ? तुम उसके बारे में क्या कहना चाहते हो ?'

वह मुझे देखता हुआ गुमसुम खड़ा रह गया।

'छोड़ो...डायरी लिखी थी कुछ ?'

'जी नहीं।'

'अरे भई, लिखते जाना था...कैमरा ले गये थे, शाट्स लिये ? कहां हैं, लाओ देखें।'

वह मुझे देखता ही रहा, गया नहीं, बोला भी नहीं।

'चुप क्यों हो ? बताओ, कुछ कहो ?'

इस पर एकाएक असंगत भाव से वह बोला, 'आप अपने को बहुत बुद्धिमान समझते हैं !'

मैं सुनकर सन्न रह गया।

कहकर कुछ देर वह चुप और शाँत खड़ा रहा फिर बोला, 'मैं जा सकता हूँ ?'

और उत्तर में मुझे निरुत्तर छोड़कर बिना अनुमति पाए वह सामने से बेधड़क चला गया।

नौ

प्रकाश के उस उद्‌गार पर, उसके यों चले जाने पर, मैं गहरे विस्मय में पड़ गया। विस्मय से अधिक संताप था। लेकिन सृष्टि परमेश्वर की है। तमाम में वही है। मेरा मैं अवश्य उसमें अलग है। इसलिए सब विपता का स्रोत क्या वही 'मैं' नहीं होना चाहिए ?

तभी मुझे गुरु आनंद की सूचना याद आई। फोन पर पूछा, 'आप एक पत्र का जिक्र कर रहे थे। अब बताइये वह क्या था ?'

'फोन पर पूछते हो ? लम्बा मामला है, इधर आ जाओ।'

'बात यह है कि प्रकाश अभी मेरे पास से गया है और मैं कुछ हैरान हूं। थोड़े में उसका भाव बता दीजिए।'

बोले, 'हां, उस का ख्याल है तुम अपने को लेकर व्यस्त रहते हो। एक तरह के आत्म-सम्भ्रम में बंद। ऐसे तुम्हारी जिन्दगी में निरी पैसिबिटी रही है, ऐक्टिविटी का अभाव रहा है। उस जिन्दगी पर उसमें तुम्हारे लिए मान का भाव नहीं बनता। आदर देता रहा है अब तक तो आदत के वश। उसे अपने लिए भरपूर और प्रबल जिन्दगी,

चाहिए। यही तो है कि वह आर्थिक रूप से तुम पर आश्रित है। यह उसे चुभता है। लेकिन इसके लिए भी कृतज्ञ होने का वह कारण नहीं मानता। तुम्हारी किताबें हैं, और तुम्हारी खातिर उनके प्रकाशन का काम उसने हाथ में लिया है। लेकिन प्रकाशन व्यवसाय है और व्यवसाय के ढंग से चल सकता है। तुम्हारे कोरे आदर्शवाद से वह तंग है। मानता है कि आदर्श का आग्रह तुममें इसलिए है कि तुम्हारे जीवन के यथार्थ में इसका ही अभाव है। तुम्हारी ख्याति से असल में वह प्रभावित नहीं है। मानता है कि उसमें तुम्हें आसक्ति है···यह लड़के, प्रसाद, गहरा सोचते है। बस अपने बारे में नहीं सोच पाते। सब उन्हें अधूरा है, इसलिए हर किसी, हर-कुछ का वह निषेध कर सकते हैं। यह क्षमता उनमें आती है अपने को यथावत मानते चले जाने से··· तुम कहते हो भीतर देखना। पर वे कहते हैं, आंखें बाहर को खुलती हैं दीखता सब बाहर है। इसलिए बाहर वे देखते हैं और उसकी व्यर्थता को भी देखते हैं। इससे सब अर्थ का इंकार उनके पास हो आता है। अर्थ वे स्वयं हैं, अन्यथा सब अनर्थ है।·· सच कहना, यहां के अध्यात्म ने भी क्या एक दिन यही नहीं सिखाया था? सारी सार्थकता खींचकर जाने उसने किस आत्मा के भीतर डाल दी थी। अब वे लड़के कहते हैं, विज्ञान से देख लिया गया है कि आत्मा कहीं नहीं है। जो है है। ढूढ़ बेकार है। हम में तृष्णा है, वासना है, तो है। अरुचि के विशेषण देकर उसे हटाया नहीं जा सकता। व्यवस्था के नाम पर जो नीतिवाद खड़ा किया गया, ढकोसला है। ढकोसला उनका है जो खुद के लिए भोग और दूसरे के लिए संयम चाहते हैं···प्रकाश अकेला नहीं है इसमें, प्रसाद, और यह पौध हम में से उगी है। प्रतिक्रिया है तो हमारी ही क्रिया की होगी।···प्रसाद, सोचो उस पर जो तुमने लिखा है। मैंने कहा था कि अन्तिम सत्य पहुँचने के लिए नहीं होता। तुम बुद्धि से उसी के पीछे हो। उस मार्ग पर तुम जो रेखा से आगे बढ़े तो उसी का प्रतिफल है यह उत्पात, विद्रोह। तुम जैसे बौद्धिकों ने दिमाग बिगाड़ा है

उनका—खुद पैसिव रह कर, विचार की नोक से तुमने बेचैनी पैदा की है उनमें कि उथल-पुथल के बिना वे अब रुक नहीं सकते। तुम कुछ काम में होते तो विचार की धार इतनी तीखी न होती तुम में···'

मैंने कहा, 'शायद आप ठीक कहते हैं। प्रकाश को आप सम्भाल लीजिएगा?'

'संभालने में ज्यादा दरकार नहीं होता। दिमाग का उफान हाथ के काम से आप बैठने लगता है। पसीना डाले, कुछ उगाये-बनाये वह तो सब ठीक हो जायेगा। लेकिन तुमने तो दिमाग उसका चहका दिया है। वह मेरे पास आयेगा क्यों? एक बार उखड़ा तो क्रांति से कम कुछ करना वह क्यों चाहेगा?'

'पर उसका विवाह हो गया है···'

'तुम भी प्रसाद, कभी दकियानूस बन जाते हो। अरे भई, विवाह बोझ ही नहीं होता कि झुकाए, उमंग भी होता है कि और उभारे। हम बीते के लोग जाने उसे क्या समझते हैं। देखो इन हिपी लोगों को। लड़कों से क्या उनमें लड़कियों की संख्या कम है?···गृहलक्ष्मी बहू होकर कोई लाएबिलिटी भले हो, संगिनी होकर ऐसेट हो जाती है···और इसमें गलत भी क्या है? धर्मपत्नि का अपने यहां क्या यही आशय न था कि वह धर्म में साथ दे, इस अपेक्षा में न रहे कि बस उसे सुख-सुभीते में रखा जायगा। बल्कि अपने धर्म में पति पर जो भी बीते, पत्नि उसमें साथ दे...हम-तुम सोचते हैं कि घर में बहू आयेगी और बोझ उन पर सरका के आप हल्के हो जायेंगे।। यह क्या स्वार्थ नहीं है?'

'मेरा स्वार्थ कहिए। आपने तो विवाह की इल्लत ही नहीं पाली!'

'वही तो—और तुमसे कहता हूँ प्रसाद, कि प्रकाश को छूट दे दो एकदम छूट। मानने दो कि तुम्हारी कुछ अपेक्षाएं नहीं हैं उससे, पैसे का नाता भी मत रखो। जानने दो उसे कि आजादी लुभावनी होता है तो भयावनी भी होती है—'

'लेकिन रंजना जो है।'

'रंजना है—नो ? वह भी तो स्वयं है। उसे भी अपने ऊपर न लो, स्वयं पर रहने दो।'

'लेकिन गुरु, आपकी तरह मैं बेबाक नहीं हूँ।'

'फिर वही। तुम तो लिखते हो, दुनियां को बताते हो। इस मामले में तुम निरे बाप बने जा रहे हो। प्रकाश को, अगर वह चाहता है तो, समझने दो कि रंजना उसकी है। यह मौका आते ही वह नमता दिखाई देगा। हो सकता है, पता चले कि रंजना उसकी नहीं है, वह स्वयं भी है! तो भी उसे अक्ल आयेगी। सच पूछो तो आमदनी की वजह से तुम्हारी समस्याएं हैं। है आय तो एक बार मान लेना होगा कि वह है, और तुम्हारी है। जबरदस्ती की उदासीनता से तुम्हारे नाम और काम की आय को दूसरे अपनी समझ लेंगे तो इससे उनमें प्रसाद आयगा—तुम दृढ़ होना सीखो, प्रसाद। जिसको उदारता समझते हो वह शिथिलता है। विराग नहीं है, छिपा अनुराग है।—'

'सुनिए, किसी समय आप यहाँ आ सकें तो अच्छा हो। आपके सामने प्रकाश से बात हो जायेंगी—लगता है, प्रकाश रंजना के लिए कहीं समस्या न बन जाये। वह नित्य सबेरे मेरे पैर छूती है। हो सकता है, इसमें प्रकाश का वह पूरा साथ न दे।—'

'वह चिन्ता तुम्हारी नहीं है, प्रसाद। रंजना का निर्णय उसका है। वह लड़की एम० ए० पास है और—खैर शाम साढ़े छः बजे, तुम्हें अनुकूल हो तो, आ जाऊंगा।'

शाम को जो प्रकाश सामने आया दूसरा था। गुरु ने पत्र सामने करते हुए कहा, 'यह पत्र तुम्हारा है, प्रकाश, वापिस चाहो तो ले सकते हो।'

प्रकाश कुछ देर बंधा उसको देखता रहा, फिर हाथ बढ़ा कर पत्र लिया और जेब में रख लिया।

गुरु ने कहा, 'मैंने यह पत्र पढ़ा है, तुम्हारे बाबूजी ने पढ़ा नहीं, आशय मुझसे सुना है। अब तुम बताओ क्या चाहते हो?'

'यह पत्र आपके पास कैसे पहुँचा ? पहुँचा, तो क्या उसे पढ़ लेना चाहिए था आपको ?

'हां, चाहिए था। तुम्हारे मित्र के पिता वह मेरे पास लाए थे, इसलिए कि मैं पढ़ लूं—।'

'तो मुझसे पूछने की बात कहां रहती है कि मैं क्या चाहता हूं ?'

'रहती है, रहती है। बल्कि उलटे उसी में पूछने की जरूरत पैदा होती है। पत्र में वह साफ नहीं है—लेकिन जो उसमें है, वह अपने बाबूजी से बचाते क्यों रहे ? इसलिए कि अविनय होती ?—क्यों ?'

'जी—'

'अविनय मन में हो आए तो दबाए रखने से जो परिणाम आता है, उसका प्रमाण तुम्हारे पत्र में है। याने, बेहदगी है—खैर, बताओ कि तुम क्या चाहते हो ?'

'बाबूजी से पूछिए कि वह क्या चाहते हैं। अपनी किताबों से रायल्टी चाहते हैं ?'

मैंने कहना चाहा कि प्रकाश—

प्रकाश बोलता ही गया, 'प्रकाशन रायल्टी नहीं दे सकता। प्रकाशन में इनका इन्ट्रेस्ट है। क्या वह इन्ट्रेस्ट रखना जरूरी मानते हैं ? ऐसा हो तो मैं उसका भार नहीं ले सकता।'

मैंने कहा, 'वह इन्ट्रेस्ट तुम इसी वक्त खत्म मान सकते हो। पहले कहते, तो तभी हो सकता था। जो उसका रूप सोचो कर लो, और कागज पर मुझसे दस्तखत ले लो !'

'ठहरो प्रसाद,' गुरू ने कहा, 'नाहक वीतरागी मत बनो।—हां प्रकाश, तुम इनका इन्ट्रेस्ट खत्म क्यों करना चाहते हो ?'

'मैं नहीं—लेकिन तब मैं उसका जिम्मा नहीं ले सकता।'

गुरू ने कहा, 'ठीक है, कल से तुम पर कोई जिम्मा नहीं है। दफ्तर की तुम्हारे पास चाबी हो तो यहां लाओ।—अब और क्या चाहते हो ?'

'कुछ नहीं।'

'तुम्हारा विवाह हुआ है। घर पर रहते हो। रहने में खर्च लगता है। उसके बारे में क्या सोचते हो ?'

'यह कहें तो अभी मैं घर छोड़ने को तैयार हूं।'

मैं बोला, 'प्रकाश !'

मुझे रोककर आनन्द गुरू ने कहा, 'और रंजना ?'

'रंजना ?...?'

'हां-हां, विवाह तुम्हारा हुआ है।'

'—बाबूजी ने किया है।'

'तो तुम पर वह दायित्व नहीं है, यही न ? ठीक। तो जाओ और कल से तुम आजाद हो। जब चाहो घर रहना भी बन्द कर सकते हो !'

अब प्रकाश ने भरपूर मुझे देखते हुए कहा, 'क्यों बाबूजी, आप यह चाहते है ?'

'इनसे क्या पूछते हो, मैं कहता हूँ।' गुरू बोले, 'शर्म आनी चाहिए तुमको। उदार बाप मिल गया है तो उस पर धोंस जमाते हो। चाहिए था कि इस उम्र पर कुछ सहारा होता, वह तो नही, उल्टे धमकी देने बैठते हो !—जी नहीं, सुनिए आप। प्रकाशन में इनका इन्ट्रस्ट ही न होगा, पूरे प्रकाशन पर अधिकार होगा। इस शर्त पर आप रहिए तो रहिए, नहीं तो छुट्टी पाइये।'

'मेरा वेतन कभी स्पष्ट नहीं किया गया !'

'हिसाब रखा है कोई कि अब तक कितना खर्च हुआ है तुम पर ?'

'गुरूजी, आप बोलते जा रहे हैं—तो ठीक है। हिसाब बना लिया जाये। मैं देनदार होता हूँ पाई-पाई का। यह है तो यही सही। कल से मेरी छुट्टी !' कहता हुआ प्रकाश वहां से झपट कर बाहर चला गया।

मैंने गुरू की ओर देखा। मेरे मन में उनका समर्थन न था। बात खामखा तीखी होती और तूल पकड़ती गई। यह सर्वथा अनावश्यक

था। एक युवक के साहस को चुनौती नहीं मिलनी चाहिए थी। लेकिन इस आशय का शब्द मैंने एक भी नहीं कहा, और केवल गुरु को देखा। गुरु के मन में किसी तरह की दुविधा न थी। और मुझे इस तरह देखते देखकर वह बोले, 'प्रसाद, ठीक किया कि तुम चुप रहे। प्रकाश को पता लगना चाहिए कि उसकी हेकड़ी खुद उसके ऊपर आकर भी पड़ सकती है!'

मैंने कहा 'क्या बात को टूटने की हद तक लाना सही था, गुरु आनन्द?'

'उस वक्त के बाद, हां, सही था, बल्कि ज्यादा होता तो भी सही होता।'

'मैं सोचता हूं—'

'नहीं, तुम्हें सोचने के कष्ट से प्रकाश ने मुक्त कर दिया है। वह अपने बारे में सोचने लगा है तो सोचने देना चाहिए, करे तो करने भी देना चाहिए—चिन्ता में न पड़ो। प्रकाशन किसी को भी सौंप दिया जा सकता है। वह मैं देख लूंगा। प्रसाद, किसी का मान क्षत होता है तो डरो नहीं। यह आहत मान कभी भला भी कर जाता है। झूठी हेकड़ी होगी तो टूटेगी। सच्ची आन होगी तो उसी में प्रकाश एक दिन बन आयेगा। तुमने कभी उसको चोट नहीं लगने दी है। इससे हो सकता है कि नीचे उसमें सच्ची मजबूती भी न जग पाई हो। और ऊपर का उफान सिर्फ इसलिए हो कि तुम रौब में आ जाओ। हमें हक नहीं है कि मुरव्वत में पड़ें और जिसको जो चाहिए वह न मिले—'

मैंने सुन लिया और कोई हस्तक्षेप नहीं किया, यद्यपि सहमत न था। पर प्रकाश का पिता था और शायद इसीलिए मैं तब असंगत बन गया था!

इतने में प्रकाश आया और दफ्तर की चाबी का गुच्छा झन्न से हमारे आगे फेंककर वह जाने लगा।

गुरू ने रोककर कहा, 'जाते कहाँ हो ? पैसा दफ्तर के कैश-बाक्स में होगा। तुम्हारी जेब में इस वक्त कुछ है कि नहीं ? हाथ-खर्च के जितना वहां से उठाते रहे हो, वह लेते रहना—जब तक हो।'

प्रकाश ने कटकर गुरू को देखते हुए कहा, 'दया के लिए धन्य-वाद।—अब मैं जा सकता हूँ ?' प्रश्न के अनन्तर उसने मेरी ओर देखा, देखता ही रहा। मेरी आंखें नीची हो गई। वह देख सका होगा कि निगाह मैंने हटाई नहीं है, असमंजस में आप ही वह झुक आई है।

उसने कहा, 'बाबूजी, चाबी मैंने आपको दी है। गुरूजी आपके पूजनीय हों, लेकिन—आपने बाप होने का अधिकार भी अपना उनको सौंप दिया है—मैं यह सुनकर जाना चाहता हूँ !'

मैं नीचे ही निगाह किये रहा। असमंजस में था कि क्या कहूँ। इतने मैं गुरू बोले, 'वह पत्र लिखते वक्त अधिकार की बात पूछने गये थे किसी से ? बाप है, इसलिए अधिकार है उसका कि बेटे की गालियाँ सुने, क्यों ? हाँ मैं कहता हूँ कि बाप के अधिकार का भरोसा तुम हमेशा के लिए छोड़ दो—और, प्रसाद, बस अब तुम चुप रहो।'

'कहिए बाबूजी, आप कहिए।'

मैंने आँखें ऊपर की और कहा, 'लो, मैं कहता हूँ प्रकाश, कहता हूँ कि गुरूजी से तुम माफी माँग सकते हो। मैंने उन्हें बुलाया था। मेरे घर में उनका अपमान नहीं हो सकेगा। घर मेरा है, तुम्हारा है, और वह हम भुगतेंगे। लेकिन अभ्यागत को यहां मान ही मिलेगा। सुनते हो, तुम माफी मांग सकते हो।'

'किस बात की माफी ? यह कि यह मेरे बाप बनते है ? मैं नहीं मांग सकता माफी।'

'गुरू यहाँ हमदर्दी के नाते हैं, प्रकाश।' मैंने कहा, 'हम सबके वह बड़े हैं। जो कहा उन्होंने दर्द में से कहा है। हम सबका हित चाहते हुए कहा है। कठोर हुए है तो इसलिए कि तुम्हें और हमें अपना और सगा मानते हैं। जानते हो तुमने किसका अपमान किया है ? व्यक्ति का

नहीं, उस सहानुभूति और प्रेम का किया है, जिसको लेकर वह यहां तक कह गए—नहीं तो उन्हें क्या पड़ी थी। मैं नहीं मानूंगा कि इतना तुम नहीं समझ सकते—तुम जानते हो कि तुम इकलौते बेटे हो···। अब कुछ बरस ही मुझे बाकी होंगे। मेरी रायल्टी, मेरा अधिकार ?—कहां ले जाऊंगा मैं उन्हें ? फिर वह तुम कैसी बातें कर निकले थे, सोचो तो ? इसी पर गुरुजी को गुस्सा आया, तो क्या आना ही नहीं चाहिए था ?—यह चाबी तुमने फेंक दी है—चले जाओगे—तो पीछे मैं उठा भी लूंगा—। पर इन हाथों में कब तक रहेगी वह चाबी ? देख तो रहे हो कि इस शरीर का क्या हाल होता जा रहा है। तुम्हारी माँ काम करती है, पर क्या वह काम करने लायक है ? अब दर्द एक में नहीं रह गया, दूसरे घुटने में में भी बढ़ गया है। उठने-बैठने में भी कष्ट होता है। वह चलाये जा रही है गाड़ी किसी तरह—और तुमने बहादुरी में आकर चाबी का यह गुच्छा मेरे सामने फेंक दिया है। यह बहादुरी नहीं, कायरता है। सामना लेने से भागना है। सामना कि जो जीवन है।—लो उठाओ इन चाबियों को—क्या सोचते हो ? उठाओ, —तो नहीं उठा सकोगे शायद, क्योंकि एक बार फेंक चुके हो ?—यह आन की बात है और अच्छी है—तो लो, मैं उठाए देता हूँ, कहकर, मैं उठा, गुच्छा हाथ में लिया और प्रकाश की ओर बढ़ा जो कुछ दूर खड़ा था। कहा, 'लो, अब मैं यह तुम्हें देता हूं—तुमने नहीं उठाया है, मैं देता हूँ। लो, हाथ बढ़ाओ—बढ़ाओ हाथ—'

कुछ क्षण बाद उसने हाथ बढ़ाया और मैंने उसकी फैली हथेली में वह गुच्छा रख दिया। तदनन्तर उसे कन्धों से लिया, कहा, 'लो, अब गुरु जी के पांव छुओ।' कन्धों पर दबाव देकर फिर कहा, 'छुओ, बेटा—और आशीर्वाद प्राप्त करो।' वह झिझका तो, पर उसने गुरुजी के पैर छुए और गुरु आनन्द की आँखों में आंसू डबडबा आए। बोले, 'जीते रहो बेटा !'

मैंने अनुभव किया कि युवक अपना अस्तित्व चाहता है। बुजुर्ग का अस्तित्व उसकी राह रोके है। अस्तित्व का यह संघर्ष क्या उस रीति से, जो निरी नीति और न्याय की है, शमन पा सकेगा ? शायद नहीं। कारण, प्रेम की जगह कोई नीति भर नहीं सकती। प्रेम में अस्तित्व गलता है, न्याय-नीति में अन्त में पृथक-पृथक होकर वह पलता ही है, गल तनिक नहीं पाता है। अवश्य मुझ में वह अस्मित्व-भाव रहा होगा कि प्रकाश को अपने अस्तित्व-बोध पर संकट सा छाया अनुभव हुआ।

प्रकाश चला गया और गुरु ने कहा, क्या सोचने लगे, प्रसाद ? हृदय परिवर्तन न मान लेना इसे तुम ? खैर—यह वनानि ने तुम्हारे लिए पत्र दिया था। वह जरा दूर रहने लगी है। क्या गाँव का नाम, हां मुहम्मदपुर। यहां के लोग सहयोग देंगे और आशा है पाँच एकड़ जमीन भी जो वह चाहती थी हो जायेगी। अद्भुत दृढ़ता है वन्या में और लगन···'

मैंने पत्र को खोलना जैसे शुरू किया, बोले, 'कोई बात नहीं···पत्र देख लो, पढ़ लो।'

पत्र अंग्रेजी में था और संक्षिप्त था। लिखा था कि आपकी अपरा जी ने साढ़े बारह हजार रु० भिजवा दिया है। कहीं आदित्य जी का नाम या दस्तखत नहीं है, पर अपरा जी के पत्र से साफ है कि दान उनका है। साढ़े बारह की दूसरी किस्त के लिए भी अपरा जी ने विश्वास दिलाया है। मुझसे शायद एक दिन उनका अपमान हुआ था। मैं बहुत दुःखी हूं और मेरा धन्यवाद उन्हें पहुँचा दीजिए। हो सकता है जिस राह मैं चलती आई हूँ उस पर से उन्हें समझना कठिन हो। बल्कि कठिन है, और उनका समर्थन मेरे लिए सम्भव नहीं है। लेकिन यदि उनके इस प्रकार मेरी द्रव्य की सहायता करने में मान का अंश हो तो भी मैं उनका आभार मानती हूं।—आशा है, जल्दी ही यह स्थान इस योग्य होगा कि मैं आपको यहां आमन्त्रित कर सकूँ।

पत्र पढ़ा, मोड़ कर जेब में रखा, और गुरु आनन्द ने बताया कि वनानी की योजना कैसे और कितनी आगे बढ़ती जा रही है—

मैंने पूछा, 'आपको कोई अपरा का पत्र मिला है ?'

गुरु ने कहा, 'चैक उसने मेरे पास ही भेजे थे। उनके साथ के पत्र के अलावा तो और कोई नहीं मिला।'

'आपके पास अब उसका कितना रुपया है ? बैंक में जमा के अलावा।'

'होगा तीन एक हजार, क्यों ?'

'अहमदाबाद से अपने साथ वह कुछ पैसा ले गई थी ?'

'नहीं, उल्टे दे गयी थी।'

'दे गई थी ? मैं नहीं समझा।'

'माऊंट आबू वह अपने साथ कुछ रुपया लाई थी। वहां खर्च ही नहीं हुआ। फिर अहमदाबाद उसके रुकने की बात आई, और मुझे दिल्ली आना था। तब उसने पास का सारा रुपया मुझे दे दिया। मैंने कहा कि यह क्या ? बोली, अब जरूरत नहीं है। मैंने कहा, क्यों ? बोली, आदित्य के साथ शायद मुझे आगे भी जाना पड़े। मैंने कहा कि तब तो जरूरत और भी होनी चाहिए। बोली कि आप लोग सार्वजनिक पैसा रखते हैं, जिसमें मेरा हक नहीं पहुँचता और इसलिए पैसा मुझे पास लेना पड़ता है। आदित्य तो सार्वजनिक आदमी हैं नहीं। उस पर दया की क्या आवश्यकता है। मैंने कहा, तुम स्त्री हो और पुरुष पर निर्भर होने का तुम्हें हक है, क्या इसलिए ? बोली, पत्नि अविश्वास करें तो कर सकती है, उसे अधिकार है। मैं पत्नी नहीं हूं और मुझे अपना भरोसा है ··छोड़ो, अपनी वही जाने। मैं उसमें क्या पड़ता, और उसका दिया रुपया मेरे साथ चला आया···लेकिन क्यों ?'

'कुछ नही···'

'देखो प्रसाद, ज्यादा खोद-बीन में तुम न पड़ो, न चिन्ता में। वह

समर्थ स्त्री है ··पर यह बताओ कि चारु में प्रश्न तो नहीं पैदा हो गया है ?'

मैंने कह दिया कि चारु समझदार है और मैं सब कुछ टाल गया।

अगले दिन आया एक बड़ा सा लिफाफा डाक से चारु के नाम। डाक मेरे हाथ में आई और देखा कि पते के अक्षर अपरा के है। फिर वह पत्र मैंने किसी के हाथ भिजवाया नहीं, स्वयं लेकर उसके घर गया। मैं सामने बैठा रहा, और वह पत्र पढ़ती रही। पत्र लम्बा था और चारु ने अनुपात से कुछ समय भी अधिक लिया। फिर मोड़ कर उसने वह अपनी हथेली के नीचे दबा लिया और मुझे देखा। कहा, 'आप बाबू जी क्या इसीलिए इतनी दूर आये हैं ?'

'हां, किसी के साथ भेजने की इच्छा नहीं हुई। अब तो तुम्हारा सब डर निकल गया न।'

'जी···?'

'देखो, जो खुद तुम्हें इस तरह पत्र लिख सकता है, उससे फिर डरने का कारण कहाँ रह जाता है ?'

'आप पत्र देखना चाहते हैं ?'

'नहीं···।'

'वह अच्छा नहीं है, इसलिए जाने दीजिए।'

अच्छा नहीं है ? मैं सोच में पड़ा, और कहा, 'बुरा पत्र तुम्हें लिखने की उसे क्या सूझी।···यह बताओ आदित्य के आने के बारे में उसमें कुछ है ?'

'नहीं, वह कलकत्ते गये हैं, और पत्र उनके पीछे एकांत में उसने लिखा है।'

'हुँ···तो अभी तुममें—कुछ बाकी है !'

'···तो लीजिए पत्र। वह अच्छा तो नहीं, लेकिन आपकी चिन्ता जो दूर नहीं होती है।'

सचमुच मुझे चिन्ता थी। अब तो चारू से भी ३
यह कैसा लड़की है कि एक भी पैसा पास नहीं रखा
फांद पड़ी। मैंने हाथ बढ़ा कर वह पत्र ले लिया, और
के घर रहा पड़ा नहीं। घर आकर पढ़ा। सचमुच पत्र
शील संकोच उसमें तनिक न था, लेकिन चारू के आश्वा- -
चाहिए वह भरपूर था। लिखा था...मेरी प्यारी बहन चारू।

'पत्र मुझे पहले लिखना चाहिए था। लेकिन इतना ही लिख पाती कि आदित्य जी के साथ मैं बम्बई आ गई हूँ। उतने से तुम्हारी सहायता न होती आदित्य कलकत्ता गये हैं। मैं अकेली हूं और तुम्हें लिख रही हूं...तुम्हारे मन में जाने क्या होगा?...आदित्य जी में वह सब है जिससे आदमी सफल और बड़ा बनता है। महत्वाकांक्षा है...और तुम्हें देख कर लगा कि जाने किनको वह महत्व की बातें मानते होंगे। उनमें तुमसे कहीं दूर तो नहीं हुए जा रहे हैं! सच कहना, मैं झूठ तो नहीं कहती कि तुम उनके सुभीते और शौक तक हो, आगे नहीं हो...चारू मैं विलायत में आठ साल रही हूँ मेरे पति अंग्रेज थे और आदित्य की तरह व्यवसाय में थे। मैं इन लोगों को जानती हूँ...पर शुरू में तो तुमसे सहानुभूति मानकर रह गई। बाद में उनका मन मेरी तरफ आता दीखा। तब मैंने सोचा कि मैं तुम्हारे काम आ सकती हूं...जानती हो, उनका मन क्यों मेरी तरफ झुका? ऐसी सुन्दर तो मैं हूँ नहीं। उमर में भी उनसे कम न हूँगी...झुका इसलिए कि मैं अपने मन की हूँ और किसी का ज्यादा प्रभाव नहीं लेती...तुम उनकी हो और सुलभ हो। मैं किसी की नहीं हूं और दुर्लभ ..हो सकती हूं।...चारू, शायद कबीर ने कहा है, इस तन धन की कौन बड़ाई, देखत नैनों के माटी मिलाई। लेकिन इसी तन और धन का यहां मान होता है। मेंने सीख लिया है कि यह सब झूठा है। इसलिए न मैं तन की कीमत मानती हूं, न धन के रौब में आती हूँ...यह आदमी को अजब लग सकता है, क्योंकि स्त्री से वह इन दोनों की अपेक्षा रखता है...मानता है कि वह अपने तन को गिनेगी और

धन को चाहेगी। माफ करना चारू, आदित्य मिलेंगे तो तुमको ...ले दिखाई देंगे, हारे से और मलिन···उनको मुझ से बड़ा कष्ट मिला है। बहुत गुस्सा हुए है, झीके हैं, पीटा तक है। लेकिन मैं क्या करती चारू, मुझ में चाहत होती ही नहीं है···और वह हैरान और उदास, अपने में लौट रहे हैं। चारू, हम स्त्रियों के शरीर के प्रति पुरुष में बड़ा लालच होता है। वह हम में अपने को खोने को आतुर होता है, लेकिन उससे पहले चाहता है कि स्त्री भी अपने को लेकर उसमें खो आय :— पुरुष की यह लालसा स्त्री की शक्ति बन सकती हैं, चारू बशर्ते कि स्त्री, ऊपर से चाहे जो दीखे, भीतर से ठंडी बनी रहे···मुझे ठंडी होने की जरूरत नहीं होती। विलायत में इतना कुछ देखा-भोगा है कि अब चाह उपजती ही नहीं···और चारू, इस सब और हम सब के पार ईश्वर है। असल में वही है, उसमें ही सब जीते मरते हैं। यह ध्यान में रहे तो न स्त्री पुरुष के लिए और न पुरुष स्त्री के लिए रोक बन सकता है। तब लालसा उनसे पार जाती है, वह अभीप्सा बन जाती है और व्यक्ति अटूट बनता है। चारू, तुम्हारे आदित्य महत्वाकांक्षी है, ऊंची कामयाबी उन्हें पाना है···लेकिन इस मार्ग में महत्वाकांक्षी ही टूटते हैं···मैं यह जानती थी और अचरज है कि मैं अब तक जीवित हूँ···कलकत्ता न जाकर अगर रह जाते तो शायद मुझे जान से मारे बिना न रहते···एक तरह खुद अपने मारने को यहाँ से गये हैं, लेकिन डरो नहीं चारू तुम हो, बच्चे हैं और उनके प्रताप से तुम देखोगी कि वह नये तरीके से जीना शुरू करेंगे···नहीं जानती मैं तुम्हें क्या-क्या लिखना चाहती हूं। जब सोचती हूं कि तुम्हारी अपराधिनी हूं तो जी होता है तुम्हारे आगे खुली नंगी हो जाऊं। जो जितना कपड़ों में है, उतना दुःखी है। जितना निरावरण है उतना सुखी।···मुझे नहीं मालूम कलकत्ता से वह यहां आयेंगे या दिल्ली पहुँचेंगे। गये तो गुस्से में थे, पर उतने ही प्यार में। मैंने पूछा था, कब आ रहे हो? उन्होंने कुछ नहीं बताया। लेकिन यहां फर्म की कुछ उलझन है, और शायद वह आएं। कलकत्ता

पहुंचते ही फोन किया उन्होंने और बोले कि अपरा तुम जानती थी कि मेरा लौटने का ठीक नहीं है, पर तुमने पूछा भी नहीं कि बम्बई के होटल में तुम्हारे अकेले का क्या होगा ? मैं हंस पड़ी । बोले, मैं जानता हूं कि तुम्हारे पास एक भी पैसा नहीं है । तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं होती है ? मैं फिर हंस दी थी और उन्होंने बताया कि उस दराज में चार हजार रुपया रखा है, ले लेना···चारू, यह मैंने इसलिए कहा कि ईश्वर का जिसे भरोसा हो उसे फिर कल की या किसी की क्या चिन्ता है। तुम भी ऐसे रहोगी तो पति तुमसे हटकर दूर नहीं जा सकेंगे। लेकिन तुम पत्नि हो, सब कुछ तुम्हें देना है···मैं पत्नि नहीं थी और इसलिए जो कुछ नहीं दे सकी वह मेरी अपनी और अलग बात है···लेकिन इसके बाद, चारू बुरा न मानना अगर कहूं कि तुम्हारे आदित्य को मैं प्यार करती हूं । जिसे इतना कष्ट दिया है, तुम्ही सोचो उसे प्यार करने से कैसे बच सकती हूं । उस कष्ट में मुझे वह पीट सके, मार डालने तक के किनारे आ गये तो उसके लिए क्या उनका कृतज्ञ होने से मैं बच सकती हूं···पर उनकी चाह मेरी निपट ठंडी कृतज्ञता से लौट कर पहले चाहे उनको घायल करे, पीछे भरपूर और सम्पन्न बनायेगी इस का मुझे विश्वास है । तब तुम देखोगी कि तुम्हारा पति तुम्हें इतना मिला है कि अब तक नहीं मिला होगा । फिर भी अपनी इस दुःखी बहन अपरा को माफ करना और मन में किसी तरह की कोई शंका न पालना । तुम्हारी, अपरा ।'

पद के बीच के उधड़े-से विवरण मैंने कम कर दिये हैं और कहना व्यर्थ है कि उससे मुझ को पूरा संतोष प्राप्त हुआ है । मैंने रामेश्वरी को बुला कर कहा, 'तुम्हें मालूम है रामी, चारू के पास अपरा का पत्र आया है ?'

'कब आया है पत्र ? उसकी हिम्मत कैसे हुई लिखने की ?'

मैंने कहा, 'मैं वह खुद चारू के पास ले गया था और मेरे सामने उसने पूरा पढ़ा । शायद उसको अब शिकायत नहीं है ।'

'कैसी बातें कर रहे हो तुम ? आठ रोज होटल के एक कमरे में दोनों रहेंगे और चारू को शिकायत न होगी ? चारू ऐसी भोली नहीं है, तुम्ही हो तो हो। देखो, मैं कहे देती हूँ, बम्बई, मद्रास, अलाय-बलाय कहीं जा के वह रहे, यहां इस मेरे घर में तो नहीं आ सकेगी।'

मैं सुन रहा था और पत्र मेरे पास था। लेकिन उसके चित्त का समाधान पत्र से क्या हो सकता था। उसने कहा, 'उसका अब कभी मेरे सामने जिक्र न करना...यह बताओ, प्रकाश का क्या रहा ? सुनती थी, वह कुछ और सोच रहा है !'

'हां, सोच रहा था। लेकिन शायद अब फिर काम पर ध्यान देगा।'

'तुमने डाँटा-डपटा तो नहीं था उसे ?...मन मारा सा दीखता है। अभी चारू फोन पर कह रही थी कि प्रकाश उसके यहाँ गया था और वह खुश नहीं है, घर में बंधा-बधा सा अनुभव करता है !'

'मैं उससे बात कर लूंगा। कुछ और करना चाहता है तो वह करा देंगे। समाज-सेवा वगैरा में जाना चाहता है, वह सही। इस उम्र में भई क्या मुझ में ही वह जोश नहीं था ?...हम तो जाने, उसे खुश रहना चाहिए और निश्चिन्त...और देखना ट्रंक मिलाना तो एक कलकत्ता आदित्य को, अर्जेन्ट, और मिल जाये तो मुझे बुला लेना।'

'करती हूं। पर देखना, आदित्य को कोई जोर की बात न कहना। आखिर जवान है, मर्द है।'

फोन पर मैंने कहा, 'आदित्य, तुम तो उड़कर कलकत्ता जा पहुँचे ? कहो, ठीक-ठाक हो ?'

'जी हां।'

'अपरा का पत्र आया था अभी चारू के नाम। चारू कह रही थी कि कलकत्ता से तुम सीधे यहां भी आ सकते हो। कब आ रहे हो ?'

'बाबू जी, वन्या जी को खबर पहुँचा दीजिए कि मैंने आज ही साढ़े

बारह हजार के तीन चैक गुरु आनन्द के नाम भेज दिये हैं। उनसे कह दीजियेगा कि पच्चीस हजार की ही बात थी और अपरा के पैसे में से अब कोई रकम न दी जाये।'

'कह दूंगा, पर आ तुम कब रहे हो ?'

'वर्द्धन और नीता कैसे हैं ? इस टरमीलन में उनके कैसे मार्क्स आये हैं...और बाबू जी चारू को समझाते रहियेगा।'

'आ कब रहे हो ?'

'देखिए, अभी मालूम नहीं।' और फोन उधर से बंद हो गया।

दस

भारत में रहता हुआ कोई भारतीय क्या यह कहानी कह रहा है ? यहाँ से वहां तक व्यापी हुई भारत की यथार्थता है भूख और गरीबी। इन दोनों के तो कहीं कहानी में दर्शन ही नहीं हुए। फिर इन पेट भरे लोगों के चोचलों-तमाशों के आख्यान से क्या होता है ?

अपराध मैं मानता हूँ। लेकिन आज्ञा हुई कि उत्तम पुरुष में कहो जो कहना हो। भाषा का भी क्या व्यंग है। कहने वाला होकर मैं पुरुष उत्तम हो गया हूँ ! अन्यथा कहानी वास्तव और सच नहीं है। इसके झूठ को आप सहते जाएं यही बहुत है। सचमुच सब पात्र झूठे हैं। कारण एक भी भूखा नहीं है और दरिद्र नहीं है ! अब देखिए अपरा को ही। वह क्या स्त्री जैसी स्त्री है !

'जी नहीं', अपरा बोली. 'मैं जा रही हूं, मां जी—'

रामेश्वरी के लिए अपरा जैसी थी वैसी न थी। मेरी ओर ही उसने कहा, 'अभी नौ बजे से पहले तो—'

'मां जी, मैं चली।···चारू को फोन करा दीजियेगा कि मैं अभी वहां पहुंच रही हूं।'

रामेश्वरी ने अपरा को देखा। पर पत्थर बोल कैसे सकता है। पल दो पल इसी तरह हो गए। अपरा भी रामेश्वरी को देखती गई, उसकी पलकें नहीं गिरी। फिर बोली, 'अच्छा माँ जी, मैं चल रही हूँ— फोन करा दीजियेगा।'

अपरा चली गई और रामेश्वरी सन्नाटा-सा बांधे खड़ी रह गई। जैसे सुध आने में समय लगा। बोली 'इस कुलच्छनी को फिर तुमने घर में बुलाया!—क्या बचा है अब जो यहाँ आग लगाने आई है। कहे देती हूं चारू को कि सत्यानासिनी को घर में न घुसने दे। और तुम बैठे हो बड़ी मूरत बने हुए, जैसे कुछ जानते ही नहीं!'

मैंने कहा '—तो नौ बजे से पहले हमें भी कुछ नहीं मिलेगा। रोज तो साढ़े आठ बजे नाश्ता हो जाता है!'

'नहीं मिलेगा, किसी को कुछ नहीं मिलेगा—भुगतने को मेरी ही जान है एक···' और फुंकारती हुई रामेश्वरी बाहर चली गई।

कुछ देर मैं खोया ही रह गया। फिर ध्यान आया कि रामेश्वरी चारू को फोन कर ही न दे। यह उचित न होगा। फोन अन्दर रहता है और इसलिए उठकर मैं अन्दर गया और स्वयं चारू को फोन पर बुलाया। कहा, 'चारू अपरा आई थी। अभी वहीं पहुँच रही होगी तुम्हारे पास। शायद आदित्य दिल्ली आने वाले है। तुम्हारे पास कोई खबर है?'

'जी नहीं—'

'यहाँ से अपरा तुम्हारी तरफ गई है। तुम्हारी मां—'

मैंने देखा कि रामेश्वरी खड़ी है और उसका इधर ही ध्यान है।

'—हां तुम्हारी माँ नहीं चाहती कि अपरा का—घर से सम्पर्क बढ़े। खैर तुम देख लेना।'

'ठहरो, मुझे बात करनी है।' कहती हुई रामेश्वरी फोन लेने झपट कर आई। लेकिन मैं चोंगा रख चुका था।

'यह क्या किया ? मुझे बात करनी थी !'

'तो फिर मिला लो—लेकिन क्या करना है, छोड़ो भी।'

'उस मरी को घर में नहीं घुसने देना था, जाने और क्या नाश पीटे।'

'अंह छोड़ो भी—अब तो शरण आई दीखती है।'

'नागिन का तुम्हीं भरोसा करने बैठो—'

'अरे भाई, विष का दांत निकल आए तो फिर तो नागिन से बच्चे भी नहीं डरते। छोड़ो-छोड़ो—घण्टे भर बाद फोन करके पूछ लेना, पूछना हो तो।'

कहकर मैं बैठक से लगी स्टडी में आ गया। मेरा प्रबन्ध बढ़ तो रहा है, पर बहुत धीमे। विचार जिस स्तर पर चलता है, घटनाएं उससे किनारे रह जाती हैं। मानो हम पर नहीं होती, हमारे सामने भर होती हैं। इसीलिए लिखना और करना ये दो अलग चीजें हैं। पर आदित्य और अपरा और रामेश्वरी और चारू आदि को लेकर घटी हुई घटना मेरे लिए चित्रवत नहीं रहती, वह मुझ को दबाती और मुझ पर चढ़ती-सी मालूम होती है। ऐसे ही वक्र भाग्य को लेकर आदमी को रहना पड़ता है। दृष्टा भी बने और भोक्ता भी रहे—

...ठीक साढ़े आठ बजे नाश्ता हो गया और नौ बजे घबराई हुई रामेश्वरी ने आकर खबर दी, 'सुनते हो, चारू घर पर नहीं है। बचन कहता है दो मिनट हुए मेम साहिब जो आई उनके साथ गई है।—मैं कहती हूं, सुना ? या मूरत बने रहोगे ?'

मैंने कहा, 'तो क्या हुआ ?'

'पूछते हो क्या हुआ ? मैं कहती हूँ, क्या नहीं हुआ ?'

मैंने कहा, 'रामेश्वरी, चारू साथ जा सकती है उसके, तो इतने में तुम्हारा समाधान नहीं हो जाना चाहिए कि कोई चिन्ता की बात नहीं है ?'

'यह तो मैं भी समझती हूँ। पर चारू मेरी बड़ी भोली है और तुम्हारी वह मेम साहिबा—'

इसी घड़ी अपरा के साथ चारू बैठक में आती दिखाई दी। मैंने कहा, 'लो ये तो दोनों यह आ रही हैं—चारू, यह क्या, अपरा की टैक्सी में तुम आई हो ?'

'जी नहीं, पाण्डे ड्राइवर तो था।'

'इनका सामान···?'

'···हमारे यहाँ है। और अभी हम लोग जा रहे हैं।···अपरा कह रही थी, माँ जी ने उसे माफ नहीं किया है। सुनकर मैंने कहा, अभी चलो, तुम माफी मागोगी तो मेरी माँ ऐसी है ही नहीं कि माफी रोक सकेगी। क्यों अम्मा, आते ही अपरा ने तुम्हारे पाँव नहीं छुए थे ? लो, अब यह बोल कर तुम से माफी मांगनी है।'

रामेश्वरी चित्रलिखित सी रह गई। अपरा की निगाहे नीची थी। मैं मानो इस प्रसंग में संगत न था और केवल साक्षी भर रह सकता था। रामेश्वरी ने कहा, 'यह क्या कह रही हो, चारू, कि माफी···।'

'अम्मा, इसने सीधे आकर मुझसे कहा, कि उनको मैं प्यार करती हूँ। इसके लिए सजा देना चाहो तो सजा दो, माफी दे सको तो माफी दे दो। तुम्हारे वह पति हैं, इसलिए प्यार तुम्हारा फर्ज हो सकता है। मेरा फर्ज नहीं है, फिर भी प्यार है। इसीलिए शायद पाप हो। तो मैं सजा के लिए तुम्हारे पास आ गई हूँ। कहती हैं कि तुम, या तुम्हारी माँ, अपने हाथ से मुझे जहर तक दें तो उसी क्षण खाकर मैं मर सकती हूँ।···मैं तो नहीं दे सकी माँ, तुम चाहो तो दे दो।···और चाहो तो माफ कर दो।'

'बावली तो नहीं हुई तू, लड़की। तुझे लूटने आये कोई और मैं माफ कर दूं! कहे तो जा रही है प्यार करती हूँ। यानि, प्यार छोड़ेगी नहीं··· और फिर माफ कर दूं?'

चारू ने कहा, 'क्या कहती हो, अपरा?'

'हां माँ जी, प्यार मैं बताइए कैसे छोड़ सकती हूँ। फर्ज होता तो छोड़ भी देती। जो फर्ज के पार हो गया है उसको कह भी दूं तो बताइये कैसे छूटेगा?'

रामेश्वरी ने कहा, 'नहीं छूटेगा। तो सुन लो, एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहेंगी।'

'ठीक कहती है आप मां जी···तो मुझको खत्म होने दीजिए।'

रामेश्वरी ने अपरा को देखा। बोली, 'तुम मरना चाहती हो?'

'नहीं, माँ जी, मरना मैं नहीं चाहती। चारू से पूछिए···कितना जीना चाहती हूँ। अभी मेरी उम्र क्या है। मैं बहुत जींना चाहती हूँ··· लेकिन मेरे जीने से उनके ही घर में क्लेष बनता हो जिनके लिए मुझ में प्यार है तो ऐसा जीवन धिक्कार है। ऐसे जीने में क्या धरा है। उससे तो मर जाना अच्छा है और मैं आपके हाथ में हूं।'

'तू यह नहीं कह सकती कि आगे हमारे रास्ते में नहीं आयेगी?··· तो बस, सब दुख कटा रखा है।'

'वह तो जरूर कह सकती हूं, माँ जी। लेकिन आदित्य का आप पूरा-पूरा सुख चाहती हैं···वह याद करें तो भी मुझे नहीं आना चाहिए?'

'हाँ नहीं आना चाहिए।'

'सोच लीजिए। फिर आप कहेंगी तो ऐसा ही होगा।

'सौ बार सोच लिया है, भागवान···'

'क्यों, चारू बहन?' कहते हुए अपरा ने चारू को देखा।

चारू बोली, 'तुम्हें क्या हो गया है, अम्मा? जब वह इतनी साफ

और सच्ची है तो उसके प्यार में हमारा क्या बिगड़ जायेगा ?'

'नहीं चारु, मैं नहीं यह होने दूंगी । मैं तेरे सुहाग पर जरा छाया नहीं आने दूंगी ।'

अपरा सुनकर आगे बढ़ी और रामेश्वरी के पांव को उसने माथे से छुआ और चूम लिया । फिर वहीं घुटनों के बल बैठ कर कहा, 'आपका अपनी सन्तान का प्यार धन्य है, माँ जी, वह अखण्ड रहे । और लाइये, मेरा भाग मुझे दीजिए ।'

रामेश्वरी ने मानो अपने पांव को छुड़ाया और कहा, 'यह क्या बकवास कर रही है, तू अपरा ?'

चारु बोली, 'ठीक तो कहती है, अपनी बेटी को बस रख लो और सारी दुनिया को मार डालो, और क्या ?'

मां ने बेटी को विस्मय से देखा ; कहा, 'तो तू सह लेगी यह, चारु, क्यों री ?'

'हां, सह लूंगी ।'

'मालूम है तुझे क्या कह रही है ?'

'अम्मा मुझे ज्यादा न कहलाओ, मुझे सब मालूम है । इसने जो सहा है सब मालूम है ।'

कहते-कहते चारु का गला भर आया । सुनकर रामेश्वरी खोई सी रह गई । फिर वह भी भीतर से भीगी हो आई । अपरा अब तक घुटनों के बल ही बैठी थी । रामेश्वरी ने झुक कर उसे उठाया और कहा, 'ले उठ अब और कभी ऐसा पागलपन न करना ।'

'मां जी' उठकर अपरा ने कहा, 'मैं आप कभी नहीं मर सकती । अपने हाथों मरना होता तो मैं दिल्ली क्यों आती । आदित्य से कहा था, तुम मुझे मार सकते हो ।—आपके पास आ गई कि लीजिए, मुझे खत्म कर दीजिए ।—वह नहीं हो सका है और जीना मुझे बदा है तो कहती हूं, माँ जी कि प्यार के बिना जीना बेकार है !'

'बस अब यह बकवास अपनी बंद कर, अपरा। बड़ी अकल वाली बनती है, प्यार वाली बनती है। प्यार वह है जो मुंह पे आता है? छी:—तो जा, और सामने से दूर हो जा।'

अपरा ने रामेश्वरी को देखा और भीतर ही भीतर प्रभावित हुई। उस चेहरे पर जितना काठिन्य था, मानो साथ उतनी ही वदान्यता थी वह अलग चुप खड़ी हो गई।

रामेश्वरी ने कहा, 'अपरा, अब कभी प्रेम को मुँह पे न लाना। मैं जानती हूं कि प्रेम पर तुम लोग बहुत जानती हो। जानती होगी। लेकिन सुन लो, जो मुंह से बोलता है, प्रेम नहीं है। जो दूसरे से मौत मागने जाता है वह भी प्रेम नहीं है। प्रेम तो खुद को तिल-तिल मारता रहता है···तुम्हारा सामान चारू के यहां है? वह रखना चाहती है तो सामान को कहीं इधर-उधर ले जाने की जरूरत नहीं···। चारू इसे ले जाओ—ले जाओ मेरे सामने से' और रामेश्वरी जरा हंसी। बड़ी प्रभुतापूर्ण वह हंसी थी।

अपरा, चारू और रामेश्वरी के चले जाने के बाद मैं अपनी अकिं-चित-करता और स्त्री की प्रभुतापूर्णता पर सोचता रह गया। स्पष्ट हो गया कि जो मस्तिष्क के वश का नहीं है वह हृदय के संभ्रम से अनायास हो आता है।

उसी दिन तीसरे पहर गुरू आनन्द ने पूछा, 'बनानी यहां है, प्रसाद, तुम्हारी तरफ अभी आ सकती है? या कब आए?'

'क्या बात है?'

'कुछ परामर्श करना चाहती है।'

मैं मन पर अधिक उलझन नहीं लेना चाहता था, कहा, 'आप तो हैं, फिर मुझे छोड़ा भी जा सकता है।'

'बड़े अनमने दीखते हो, भई—तो यही कह दूं?'

'या—भेज ही दीजिए।'

वनानि ने आकर पत्र बताया जो अगले साढ़े बारह हजार के चैकों के साथ आया था। उस पर कम्पनी के जनरल मैनेजर के हस्ताक्षर थे कि जिनकी तरफ से आठ हजार का चैक बना था। शेष दो चैक क्रमशः ढाई और दो के थे और वे अलग कम्पनियों के थे। पत्र में था कि मान्य डायरेक्टर महोदय के आदेश से भेजे गए कुल साढ़े बारह हजार के ये तीन चैक कृपया प्राप्त कीजिए। साथ चार-सौ-चालीस वर्ग गज के प्लाट पर बनने वाले एक काटेज का नक्शा है। जमीन आपकी रहेगी और बंगले का सब खर्च कम्पनी से होगा। मिल्कियत सब आपकी मानी जायेगी, लेकिन फर्म के डाइरेक्टर श्री आदित्य के० राय के साथ श्रीमती अपराजिता पैनहर्स्ट, दोनों या हर एक, अपने जीवन काल में जब और जितने दिन के लिए वे चाहें उसका उपयोग कर सकेंगे। साथ ही उनके किन्हीं वारिसों का इतना भी अधिकार न होगा। कृपया तत्काल अपनी अनुमति भेजें, जिससे मान्य डायरेक्टर महोदय स्वयं निरीक्षण करके उपयुक्त प्लाट का चुनाव कर लें और काम अविलम्ब शुरू किया जा सके।

मैंने पूछा, 'तो वन्या, इसमें मेरे लिए बताने को क्या है?'

'आप कहते हैं, इनको स्वीकार कर लेना चाहिए?'

'नहीं तो क्या इन्कार करोगी?'

'जी कुछ,—देखिए, यह मेरे उत्तर का ड्राफ्ट है।'

पत्र अंग्रेजी में था और उत्तर का ड्राफ्ट भी अंग्रेजी में था। लिखा था :

प्रिय महोदय, चैक प्राप्त हुए, धन्यवाद···चार सौ चालीस वर्ग गज के प्लाट पर बंगला बनाने के प्रस्ताव के लिए मान्य डाइरेक्टर महोदय को हमारा आभार पहुंचा दीजिए। हमको इसे स्वीकार करने

'बस अब यह बकवास अपनी बंद कर, अपरा। बड़ी अकल वाली बनती है, प्यार वाली बनती है। प्यार वह है जो मुंह पे आता है? छीः—तो जा. और सामने से दूर हो जा।'

अपरा ने रामेश्वरी को देखा और भीतर ही भीतर प्रभावित हुई। उस चेहरे पर जितना काठिन्य था, मानो साथ उतनी ही वदान्यता थी वह अलग चुप खड़ी हो गई।

रामेश्वरी ने कहा, 'अपरा, अब कभी प्रेम को मुँह पे न लाना। मैं जानती हूं कि प्रेम पर तुम लोग बहुत जानती हो। जानती होगी। लेकिन सुन लो, जो मुंह से बोलता है, प्रेम नहीं है। जो दूसरे से मौत मागने जाता है वह भी प्रेम नहीं है। प्रेम तो खुद को तिल-तिल मारता रहता है···तुम्हारा सामान चारू के यहां है? वह रखना चाहती है तो सामान को कहीं इधर-उधर ले जाने की जरूरत नहीं···। चारू इसे ले जाओ—ले जाओ मेरे सामने से' और रामेश्वरी जरा हंसी। बड़ी प्रभुतापूर्ण वह हंसी थी।

अपरा, चारू और रामेश्वरी के चले जाने के बाद मैं अपनी अकिं-चित-करता और स्त्री की प्रभुतापूर्णता पर सोचता रह गया। स्पष्ट हो गया कि जो मस्तिष्क के वश का नहीं है वह हृदय के संधान से अनायास हो आता है।

उसी दिन तीसरे पहर गुरू आनन्द ने पूछा, 'बनानी यहां है, प्रसाद, तुम्हारी तरफ अभी आ सकती है? या कब आए?'

'क्या बात है?'

'कुछ परामर्श करना चाहती है।'

मैं मन पर अधिक उलझन नहीं लेना चाहता था, कहा, 'आप तो हैं, फिर मुझे छोड़ा भी जा सकता है।'

'बड़े अनमने दीखते हो, भई—तो यही कह दूं?'

में प्रसन्नता ही होगी। किन्तु संस्था के, जिसका अभी विकास हो रहा है, अपने कुछ नियम होंगे। श्री मान ए० के० राय और श्रीमती ए० पैनहर्स्ट अपनी स्वतंत्रता में उन नियमों के कारण कहीं बाधा अनुभव न करें। हम नहीं चाहेंगे कि किसी प्रकार की भी उन्हें दुविधा हो। शांति धाम का एक स्पष्ट लक्ष्य है और उसकी साधना प्रक्रिया के अनुकूल ही संस्था का वातावरण होगा। उन नियमों के सम्बन्ध में कोई अपवाद न हो सकेगा। इसके प्रकाश में आपके डायेरेक्टर महोदय अपने प्रस्ताव पर पुनः विचार कर सकते हैं···साढ़े बारह हजार की राशि की रसीद अभी इसलिए नहीं भेजी जा रही कि यदि डायरेक्टर महोदय उस धन का अमुक विशिष्ट उपयोग चाहते हों तो उसका उल्लेख कर दें। यदि हमारे लक्ष्य के अनुकूल न हुआ तो वह राशि वापिस भी भेजी जा सकेगी।'

पत्र पढ़कर मैंने वन्या को देखा, पूछा, 'यही पत्र भेजना है ?'

हंसकर बोली, 'मुझे क्यों भेजना है। पत्र जनरल मैनेजर का था। मेरी [illegible] ह से भी जनरल नहीं तो कोई मैनेजर भेजेगा···आप सहमत नहीं मालूम होते।'

मैंने कहा, 'अपराजिता पैनहर्स्ट है, यही मुझे मालूम न था··· वन्या, तुम्हारा पत्र जरा सख्त तो नहीं है ?'

'मैं तो समझती हूँ, अधिक विनम्र है।' कहकर वन्या हंसी। कैसी गर्विष्ट वह लगी हंसी। वह कम ही हंसती है। इसलिए उस क्षण एक गौरव की दीप्ति से वह मोहक हो आई।

मैंने कहा, ' देखो, बंगले में तुम्हारी ओर से पैसा नहीं लगेगा। इस पत्र के आधार पर उस के रख-रखाव का खर्च भी उस कंसर्न से मिलता रह सकता है। मालिकी मुफ्त तुम्हारी होगी···फिर आनाकानी की बात क्या है ?'

उस मोहक भाव में मानो एक कर्मी दृढ़ता प्रगट हुई। बोली, 'अपरा ने पच्चीस हजार भिजवाया है। वह पच्चीस के पच्चीस मैं वापिस कर सकती हूँ। पैसा उन के साथ है, तो मुझे नहीं चाहिए… आप सोचते हैं शांति-धाम में उस जैसी स्त्री का निर्वाह हो सकता है?'

'लेकिन उसने तो उसके लिए आवेदन नहीं किया।'

'आवेदन होता तो मैं समझ सकती थी। रुपये के रास्ते से आया यह आरोपण मैं नहीं ले सकूँगी…, और यह मैंने क्या सुना था…कि अपरा बम्बई होटल में आदित्य के साथ रही है!'

'ठीक सुना था—और शांतिधाम के तुम्हारे नियम कड़े होने वाले हैं!'

'जी, किसी-किसी स्थिति को वहाँ अवकाश नहीं मिल सकेगा।'

'हूँ, तो तुम रुपया वापिस करोगी?'

'अगर चुनौती है तो वापिस करना ही होगा!'

'वन्या, आदित्य के पत्र में तुम्हें चुनौती दीखती है?—पैसा भेजने के साथ कहीं किसी तरह का भी संकेत वहाँ है? बल्कि…'

'दोनों के नाम साथ क्यों आए हैं उस पत्र में?'

'वह बात वन्या, तुम्हें चुभ गई है, यह मैं नहीं मानूँगा। इतनी हलकी तुम नहीं हो सकती हो—आदित्य बंगले का उपयोग कभी-कभार अपने लिए चाहे, यह स्वाभाविक है। और वह जानता है, अपरा के लिए कहीं शरण-स्थल नहीं है। इस विचार-शीलता और उदारता को ही तुम लांछन नहीं मान लोगी।…वन्या, मुझसे पूछो तो तुम्हारे पक्ष में मान की मात्रा अधिक है। आदित्य बिजनेस में है। उसे कानून से निबटना पड़ता है। तुमको कौन ऐसा चक्कर है कि उसके जनरल मैनेजर के मुकाबले तुम्हारा भी 'मैनेजर' ही उत्तर देने बैठेगा!—सीधे अपने

हाथ से आदित्य को पत्र तुम क्यों नहीं लिख सकतीं—कि आइये जमीन देख लीजिए और काटेज झटपट बनवा डालिए···और मैं तुमसे कहता हूं वन्या, कि अपरा कभी उसमें रहने न आयेगी। न आदित्य को ही इसका अवकाश मिलेगा। काटेज वह तुम्हारी होगी, और तुम ··शांति-धाम बना भी नहीं कि उसके नियमों को याद करके अभी से कड़ी बनी जा रही हो!'

'आप क्या अपने दामाद का पक्ष नहीं ले रहे हैं?'

'नहीं, तुम्हारा पक्ष ले रहा हूँ।···तुम्हीं एक बार कहती थीं कि विलायतों में आफर्स थे, तुम सम्पन्न संस्थाओं में से किसी की वहां हाई-प्रीस्ट हो सकती थीं—वह सब छोड़ कर यह यहां क्या करने बैठी हो!'

'दैट वुड हैव बीन लिविंग सैकिंड हैंड, बीइंग अनक्रिएटिव। वहां सब बना बनाया होता, मेरे लिए कृत्रिम होता। अब जड़ से बनाना हो रहा है। इसमें प्रयास पड़ता है, संघर्ष मिलता है, और यह मेरे लिए अच्छा है—जैसे कि यही आपके आदित्य जी की बात। जी हां, मैं झुक नहीं सकती ··सुना है, अपरा यहां आई हुई है!'

'हाँ, आई है! गुरु आनंद के यहां नहीं मिली?'

'नहीं, गुरु को तो मालूम भी नहीं है।'

'हुं—तो होगी कहीं—वन्या, आदित्य को वेग में सुध नहीं है। यह आर्थिक स्पर्द्धा और जीत मन पर तरह-तरह के तनाव ले आती है··· इसमें ही किसी में अगर कभी भली लहर उठ आए तो उसे प्रतिरोध नहीं मिलना चाहिए। मैं आदित्य को जानता हूं। उपकार उसके वश का नहीं है। जो करता है लहर में करता है···उपकार होता तो मैं ही कहता कि न लो पैसा···देखा नहीं था कि कितनी आसानी से वह तुम्हें साफ मना कर गया था। तुमने तब हृदयहीन माना होगा, वही सहृदय ही पड़ता है! बिजनिस में बिचारे को अपनी सहृदयता के लिए मौका

नहीं मिलता···हम सबको कृतज्ञ होना चाहिए कि अपरा ने उसके हृदय के उस तल को छुआ है और—वनानि, इनको तुम गलत न समझोगी !'

वनानि ने सुन कर अकुंठित भाव से कहा, 'आप जानते हैं, मैंने आपकी ही मार्फत अपना आभार अपरा को भिजवाया था। लेकिन जो मैं चाहती और सोचती हूँ उसमें स्त्री और पुरुष एक दूसरे में से ही अपनी पूर्ति नहीं मान लेते हैं। आम तौर पर यही होता है। वह गलत नहीं है, संसार उससे चलता है। लेकिन सम्पूर्ति उसमें नहीं है। दोनों व्यक्ति रूप में एक दूसरे को पहिचानें और सहयात्री हो कर स्वेच्छा से उन लोकोत्तर शक्तियों के मात्र वाहक बन जाए तो ही सच्ची सार्थकता मिल सकती है—अपरा जैसी स्त्रियों के लिए वह मार्ग नहीं है, मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए।···आदित्य ने अपरा के मोह में यह रुपया दिया हो तो उस मोह को तो संस्था अपना आधार बना नहीं सकेगी—'

वन्या गयी न थी, जब अपरा और चारू आ गईं। चारू सीधी अन्दर अपनी मां की तरफ बढ़ गयी। मैंने कहा, 'कहो अपरा, तुम अभी गुरु जी से भी नहीं मिल सकी हो ?'

'कहाँ मिल सकी ? चारू से छूट पाऊं तब तो···नमस्कार, वनानि दीदी, हम लोग शायद आपकी बात में विघ्न बने हैं—बस आज शाम गुरु जी के यहाँ शिफ्ट कर जाऊंगी। आदित्य परसों तक पहुंच रहे हैं, चारू कहती थी। माफ कीजिएगा दीदी—'कहती हुई वह भी रामेश्वरी के पास अन्दर जाने लगी।

मैंने कहा, 'अपरा, वनानि यहां जिस मशवरे के लिए आई थीं उससे तुम्हारा सम्बन्ध भी है। बैठो।—तुम्हारा अब कहीं घरवार नहीं है। वन्या को पांच एकड़ जमीन मिल गयी है। साढ़े बारह इन्हें बम्बई से आया था, और साढ़े बारह अब कलकत्ते से भी आ गया है। वहीं

थोड़ी जगह लेकर एक बंगला बनाने का विचार आदित्य ने इनकी स्वीकृति के लिए रखा है। खर्च सब उसकी तरफ से होगा, मालकीयत इनकी रहेगी। कभी-कभी आदित्य या तुम आओ तो वहां रह सको, बस इतनी ही मांग है ! बाकी बंगला शांति-धाम का ही समझो—'

अपरा बोली, 'लेकिन मैं—'

'सुन तो लो पहले—वनानि का विचार है कि शांति-धाम के जो अपने नीति नियम होंगे, बंगले में तुममें से कोई आया और ठहरा तो उस पर वे भार जैसे बन सकते हैं। उन नियमों में ढील की जाये तो वनानि को पसन्द न होगा और उनकी सख्ती आप लोगों को अनुकूल न होगी। इसलिए दुविधा थी और यह मेरे पास आयीं—सुनोगी, क्या सोचा है वनानि ने ? सोचा है कि आया रुपया सब लौटा दे जिससे कि किसी के मन पर जोर न पड़े ?'

'वनानी दीदी !' 'अपरा ने कहा, 'क्या यह आपने ठान लिया है ?'

'हां आप लोगों ने—'

'आप लोग !—मैं इसमें कहाँ हूँ ? वह रुपया आदित्य का है। मुझसे मतलब ?'

'अपरा जी', वनानी ने कहा, 'आपका ही पत्र पहले रुपये के साथ मिला था। मैंने अपना धन्यवाद आपको इनकी मार्फत भिजवाया भी था...'

'जी हां। पर धन्यवाद किसलिए ?...फालतू रुपया आदित्य का भला नहीं कर रहा है। बहुत उस पर फालतू है। यही तो है आज के उद्योग की मुसीबत कि बिना किए रुपया बढ़ता जाता है। इसीलिए कहीं ऐश है, तो कहीं भूख है।...मान भी लीजिए कि मेरी वजह से आपको आदित्य ने कुछ भेज दिया है—मेरे लिए नहीं भेजा, तो भी मान लीजिए—तो धन्यवाद इसके लिए दें तो मुझे वह देंगे। भला तो

उनका हुआ है । आप जो काम करने जा रही हैं ऊंचा काम है, और उसको हक आता है । रुपया वहां जो लगेगा धन्य होगा । सच पूछिए तो जितना जिसके पास अतिरिक्त है सब छोड़ना होगा । खैर···और बंगले की बात बिल्कुल झूठ है । कोई बंगला नहीं होगा···हम जैसे लोगों को लाख दफे गरज पड़ेगी तो आकर आपके आश्रम वासियों की तरह रहेंगे और वहाँ के नियमों को मानेंगे ··आप चिन्ता न कीजिए वन्या जी···यह सब मानने की बात है कि रुपया जिसके पास पहुँच गया उसका है···। जी नहीं, समाज का है और धन वाले सिर्फ खंजाची हैं कि आप जो समाज सेवक हैं उनके हुक्म पर रुपया देते रहें--आप पर अहसान नहीं है आदित्य को और लिखने दीजिए जो वह लिखें, आप निश्चिन्त रहिए ।'

मैंने कहा, 'आदित्य ने कुछ गलत बात तो नहीं लिखी है, अपरा ।'

'एक दम गलत बात है यह—कि आश्रम में बंगला बनेगा । वनानि जी से पूछिए, वहां बनेगी तो कुटी बनेगी । किसी को आराम-गाह चाहिए, सैरगाह चाहिए तो वह अपनी देखें···और आप सही कहती हैं वन्या जी कि ऐसे आदमी का रुपया रखने की जरूरत नहीं है । पर अव्वल तो रुपया असल में पूंजी वाले का नहीं है, दूसरे आदित्य वैसे नहीं है । मुझ पर छोड़िए उन्हें, मैं सम्भाल लूँगी ।'

'देखती हूँ आपका बहुत जोर है उन पर ··'

कहते हुए वनानि के चेहरे पर मुस्कराहट थी । पर मुझे व्यंग भी दीखा उसमें और देखकर अपरा ने कहा, 'जी हां, दुनियां ऐसी ही उलटी है । यहां नीति-हीनों के पास शक्ति होने लग जाती है !' कहकर वह खिलखिलाकर हस पड़ी । वन्या के लिए यह उत्तर नया रहा होगा । 'लेकिन वनानी दीदी' मानो बिना रुके अपरा ने कहा, 'नीति को शक्ति से हारना नहीं है···शायद आप मुझे अपनी संस्था में स्वीकार

न करेंगी।···लेकिन बताइये दूर से मैं और क्या सेवा कर सकती हूँ ?'

वन्या ने अपरा को देखा। अपरा में व्यंग न था। कुछ क्षण देखती रही, देखती रही। फिर कह उठी, 'अपरा तुमसे क्या छिपाऊं ? ५०,००० के जो वचन मिले थे, उनमें अब तक कुछ नहीं आया है। तार दिये हैं, पर···कह नहीं सकती कि वह आयेगा ही।'

अपरा तुरन्त बोली, 'तो आप सोच में क्यों पड़ी हैं, वनानि जी। आपका जो काम है आपका है। पैसे का काम हम जैसों पर छोड़िए, जो भोग-रोग-सोग में दीखते हैं—वह सब मैं करूंगी। आखिर चरित्र-हीनता का कुछ तो लाभ हो!' कहकर फिर वह उघाड़ी-सी हंस आई।

वन्या को अपने सम्बन्ध में सन्तोष नहीं हो रहा था। लेकिन जाने किस आवेग में वह बोली,—

'मैंने यह किसी से नहीं कहा है, अपरा, गुरु जी से भी नहीं। वह तो कह ही चुके थे कि जमीन के अलावा वह और कुछ नहीं कर सकेंगे—और मेरे कमिटमैंट हो गए हैं!'

'ओ :' अपरा ने कहा, 'आपके साहस के लिए श्रद्धा होती है, दीदी, कि इस कठिनाई में भी आप सिद्धाँत के लिए पूरा पच्चीस का पच्चीस आदित्य को वापिस करने को तैयार हो गई हैं।—आज शाम मैं आनन्द-कुंज पहुंच रही हूँ—कुछ तो नगद शायद कल ही मिल जाये, लेकिन क्रेडिट पर आपकी कमिटमेंट निभ सके तो और पच्चीस हजार तक आप मुझ पर निर्भर कर सकती हैं—और देखिए मेरा लिहाज न कीजिएगा, बिल्कुल नहीं। क्योकि मैं आपकी लाइन से एकदम सहमत नहीं हूं। मुझे विश्वास नहीं है संयम की साधना में—'

'वह तुम बाद में समझोगी, अपरा।'

'—लेकिन मैं आपसे उम्र में कम तो न हूंगी!'

'वह होगा—लेकिन हमारे भारतवर्ष की आर्य सभ्यता इतिहास की परीक्षा में से निकल चुकी है। उसमें हाल में गाँधी हो गए हैं जिनका चमत्कार—'

'गाँधी ?' अपरा ने कहा, 'छोड़िये वनानी जी। संयम से कोइ जेल में नहीं डाला जाता है, गोली से नहीं मारा जाता है। वनानि जी, इस बात को छोड़िए।'

'इतनी असहमत हो—तो यह अर्थ की सहायता का भार क्यों लेती जाती हो अपने ऊपर तुम अपरा ?

'वह भी छोड़िए। अर्थ यहाँ व्यर्थ है और सार्थक उसे वे करते हैं जिनके पास कोई श्रद्धा है। जैसी आप—'

उइ समय उन दोनों के बीच मुझे स्वयं असंगत और अनावश्यक बना रहना अच्छा लगा। ऊपर की बात के बाद अपरा भीतर चारू के लिए रामेश्वरी के पास चली गयी। वन्या रही और आदित्य को लिखा अपना उत्तर उसने रद्द कर दिया। सामने बैठ कर अपने हाथ से धन्यवाद का पत्र अंग्रेजी में लिखना शूरू किया। लेकिन मेरे सुझाव पर अंग्रेजी का सरनामा काट कर उसी कागज पर आगे हिन्दी में लिखा। यह भी लिख दिया कि यहाँ अपराजिता जी ने उनके काटेज के प्रस्ताव को पसंद नहीं किया है। इसके बाद भी अगर उनका आग्रह हो तो ···इत्यादि।—

यह पत्र आदित्य को अगले दिन वही मिल गया होगा। कारण, उसका फौरन फोन आया।

पूछा, 'बाबू जी, वन्या का पत्र है। क्या अपरा से उसका मिलना आपकी जानकारी में हुआ ?'

'हां, घर पर ही दोनों की मुलाकात हो गई थी···क्या बात है ?'

'आपने यह कैसे स्वीकार कर लिया कि वन्या की जगह में काटेज

नहीं बनेगी ?·· आश्रम-वाश्रम हवा में नहीं खड़ा हो जायेगा। वहाँ भी मकान की जरूरत होगी···अपरा को बीच में लेने या उसे पड़ने की जरूरत नहीं है। झमेला मै पसन्द नहीं करता, बाबूजी। पच्चीस हजार रुपया मिट्टी में जाने के लिए मैंने नहीं दिया है। आगे भी मुझे देखना हैं कि वन्या का काम बनता है···मैं यहाँ फंस गया हूं, नहीं तो अब तक आ जाता···अपरा का ज्यादा घर आना-जाना या उसे बढ़ने देना जरूरी नहीं है चारू को कहा था, आ रहा हूं, कह दीजिएगा, और भी जल्दी आने की कोशिश करूंगा। बच्चों को प्यार कहियेगा···अब बंद करूं ?'

अच्छा फोन था कि एक शब्द मेरी ओर से नहीं गया और वह बंद हो गया !

प्रकाश की तरफ से मैं आश्वस्त था। लेकिन मालूम हुआ कि वह प्रकाशन के लिए साढ़े पांच सौ रुपये का एक मैनेजर रख रहा है। और स्वयं ? मैंने बुला कर यही उसे कहा।

प्रकाश ने कहा, 'आप चाबी मुझे सौंप चुके हैं, बाबू जी। फिर मान लीजिए कि चिंता भी सब सौंप डाली गई है !'

'तो भी, तुम किस में समय लगाना चाहते हो ? यह काम तो अभी इतना बड़ा है नहीं कि मैनेजर के अलावा···'

बोला, 'आकगत की सोचने में तो समय अभी लगा नहीं सकता हूं··· मैं समझता था आप उसी ओर ध्यान देने के लिए अवकाश चाहते थे···'

यह कैसा उसका उत्तर था। मैंने कहा, 'प्रकाश ?'

बोला, 'बाबू जी, दुनियाँ बड़ी तेजी से नई हो रही है। उसके नये मूल्य होंगे। कमाई-धमाई वहाँ कोई नहीं पूछेगा। मैं समझना चाहता हूं कि किसलिए मैं जी रहा हूं ? परिवार के जूए के चक्कर के लिए ?

हिन्दुस्तान में कुनबा एक कोल्हू होता है। लड़का उसमें जुते और चकराता रहे। ऐसे क्या फिर नई दुनियां लाने के लिए वह बचा रह सकता है। मैंने इन्टर साइंस से किया। आपने चाहा और अब एम० काम हूँ। पर मैं बढ़ने विज्ञान को समझना चाहता हूँ। फिर इंसान और समाज के विज्ञानों को भी। आगामी इतिहास को लाने में लगना चाहता हूं...।'

आशय कि मैं सुनता रहा। कहने को क्या था। मैंने देख लिया नई दुनिया को इन्हें लाने देना है और स्वयं अपने को चुपचाप पुराना बन खिसका लेना है!

अगले दिन आदित्य आ गया। प्लेन सबेरे पहुंचा था। घर पर मुश्किल से नाश्ता किया और फैक्टरी दौड़ गया। लंच गायब। तीन बजे गुरु आनंद को लेकर वन्या के यहाँ मुहम्मदपुर मौजूद। गुरु ने चलते वक्त सुझाया कि अपरा को साथ ले लेते हैं, तो काटकर एकदम मने कर दिया।

वन्या का स्थान क्या था, उजाड़ ही था। आदित्य को बेहद कोफ्त हुई। गुरु के साथ पूरी जगह घूमी और पांच सौ गज के करीब की जगह बता कर कहा कि कल इन्जिनियर आयेगा और सब प्लान बना देगा। वह वहां ढाई घंटे रहा और उसकी बड़ी गाड़ी को देखकर गांव के लोग जमा हो गए। उसने सब को डांटा कि तुम्हारे गांव में इनके जैसी महिला आयी हैं और तुम लोग काहिल पड़े हो! बोलो, तुम्हें क्या चाहिए? छः महीने के अन्दर जगह गुलजार हो जाय। पानी का सवाल है तो मैं तो हूं। ठीक है, ट्यूबवेल हो जायेगा। पर लगना आप लोगों को है। अगली रबी की फसल हमको इस जमीन में से पा लेना है।... आदि-आदि सब विवरण शाम को आकर गुरु आनंद ने मुझे ला सुनाया। बोले, 'तुम क्या सोचते हो, प्रसाद?'

मैं हंस कर रह गया। बोले, 'लेकिन उसका इस सब में तो विश्वास नहीं है।'

'उसकी क्या जरूरत है गुरूजी। अपने में विश्वास है और इतना उसे काफी है।'

बोले, 'प्रसाद, कुछ और भी इसमें है। अपरा को मालूम था कि तीन बजे आदित्य आने वाला है पर उस समय वह आसपास कहीं दीखने को थी ही नहीं और कहने पर आदित्य ने एकदम उसके नाम को काट दिया!'

'होगा। छोड़िए। पर वन्या का काम अब बीच में नही रुकेगा।'

'मैं इसलिए आया था, प्रसाद, कि अपरा कुछ लिखना चाहती है। तुम्हारे पास रह सकती है वह सीखने-साखने के लिए? उसने पुछवाया था—'

मैंने कह कर छुट्टी पाइ कि में संस्था नहीं हूं, गृहस्थी हूं, वह भी घर में महमान से अधिक नही हूँ।

पर कहीं हुई है छुट्टी?—चक्कर है जो चल रहा है। मैं उसके बीच हूं और हैरान हूं। सब अपने-अपने में हैं। वन्या है, और उसका धाम है। आदित्य है और इन्ड्रस्ट्री है। गुरू हैं और लोक सेवा है। अपरा है और—बस वह है। चारू है और उसकी गिरस्थी है। रामेश्वरी है, और समस्या के तौर पर मैं उसके लिए बहुतेरा हूं। ऐसे चूं-चूं करता हुआ सब चल रहा है—और मैं बराबर में लेटा हुआ हूं। ग्यारह बज गया है। रामेश्वरी सो गई है, मैं समझता हूं। वह समझती है, मैं सो गया हूं।

'बोली, अजी सो गये!'

'क्यों, कहो,—।'

बोली, 'कुछ नहीं। अब मुझे आराम है। पहले डर रहता था पर अब चारू—अब सब ठीक है।'

'क्या कह रही हो यह ?'

'—वह अब खुश है। मुझे डर रहता था। उसे भी रहता था।' कहती हुई रामेश्वरी हल्के हंसी, बोली, 'अब डर नहीं है। अब सब ठीक हो गया !'

'यह क्या कहे जा रही हो, रामी, तुम ?'

'नहीं, अब कोई डर नहीं है। अब चारू खुश रहेगी।'

'यह क्या पहेली सी बुझा रही हो जी ?'

'ठीक है। पहेली ही है। क्या कहूं, कैसे तुमसे कहूं—कह रही थी चारू कि अपरा ने अपना तन-बदन दिखाया था। जगह-जगह निशान पड़े हुए थे। अपरा ने कहा कि चारू, मैं तो अपने में से वह सब खो बैठी हूं। पर चारू तुम इन्हें उन्हें दे सकती हो। तुम्हारा हक है और तुममें वह सब है। अरमान हैं, उमर है।—बताया कि आदित्य हकूमत करते हैं, कोई उन पर नहीं करता। चारू तुम नहीं समझती, उनका मन इसी के लिए भूखा हो सकता है। अपने ऊपर किसी को सहने के लिए। क्या कोई उन्हें ताबेदार नहीं बना सकता—चारू, तुम यह करोगी तो तुम खुश होगी, वह खुश होंगे। प्यार में तुम पहल लो, अपने प्यार तुम बेहया और बेरहम बनो—ऐसे जाने क्या-क्या कहती रही। और आदित्य के आने के अगले दिन चारू घर पर इतनी खुश, इतनी खुश-खुश आई कि मैं क्या कहूं।···और अपनी गई बीती रात को याद कर वह बड़ी

हंस रही थी, बड़ी ही हंस रही थी···समझे ? इसलिए अब डर नहीं रहा।'

रात घिर रही थी और मैंने कुछ भी समझना नहीं चाहा।